CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृत काव्यतत्त्व मीमांसा

डॉ० उमेशप्रसाद रस्तोगी
डी० लिट्०

1634

प्रकाशन केन्द्र
रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ–226 020
(फोन : 73035, 75538)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

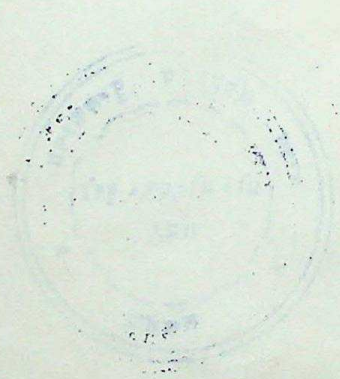

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृत काव्यतत्त्व मीमांसा

State Museum Library Lucknow
राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी संग्रह
लखनऊ

डॉ० उमेशप्रसाद रस्तोगी
डी० लिट्०
अध्यक्ष
संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रकाशन केन्द्र
रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ 226 020
(Phone : 73035, 75538)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(संस्कृत काव्यशास्त्रीय समालोचना का एक
प्रामाणिक ग्रन्थ)

प्रकाशक : **प्रकाशन केन्द्र**
रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ - 226 020

प्रथम संस्करण : 1993

मूल्य : पच्हत्तर रुपये पचास पैसे **(Rs. 75.50)** मात्र ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

प्रो० डॉ० अतुलचन्द्र बनर्जी
एस० ए०, पी०-एच०-डी०
भूतपूर्व कुलपति, अवध विश्वविद्यालय
एवं
निदेशक : वैदिक एवं पौराणिक अध्ययन एवं अनुसन्धान
संस्थान, नैमिषारण्य (सीतापुर)
उपाध्यक्ष - उ० प्र० संस्कृत अकादमी, लखनऊ.

31, स्टेशन रोड, लखनऊ
23-10-1993

संस्कृत काव्यशास्त्र का अध्ययन करते हुये बहुशः विद्वानों में मतभेद रहा है कि वस्तुतः विभिन्न सम्प्रदाय हैं या नहीं और सम्भवतः यही कारण है कि जहाँ अन्य भाषाओं के काव्यशास्त्रों में समालोचन की विभिन्न धारायें हैं, वहीं संस्कृत काव्यशास्त्र में ऐसी विभिन्न धारायें नहीं हैं और प्रतीत होता है कि सभी तथाकथित सम्प्रदायों का किसी न किसी रूप में समानान्तर सद्भाव रहा होगा। ऐसा होते हुये भी ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य के 'प्रसिद्ध प्रस्थान' के उल्लेख से सम्भवतः अनुमेय है कि क्रमशः अन्य प्रस्थानों का विकास हुआ होगा। इन्हीं प्रस्थानों को मानते हुये डॉ० उमेश प्रसाद रस्तोगी ने अपने इस 'संस्कृत काव्य तत्त्व मीमांसा' नामक ग्रन्थ में काव्य विवेचन के सभी तत्त्वों को प्रस्थान-भेद के आधार पर प्रस्तुत किया है। काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु, गुण, दोष, अलंङ्कार, छन्द एवं रीति आदि विवेचक तत्त्वों को संक्षेप में उन्होंने स्पष्ट किया है; साथ ही अन्य भाषाओं में प्राप्त काव्य शास्त्रीय सन्दर्भों को भी सूचित किया है। शास्त्रार्थ की जटिलता को त्याग कर सुगम सुबोध शब्दों के द्वारा प्रमुख आलङ्कारिकों के मतों के क्रमशः उद्भव और विकास को स्पष्ट कर डॉ० रस्तोगी ने काव्यशास्त्रों के अध्येताओं के लिये एक सुगम काव्यशास्त्र-व्याख्या प्रस्तुत किया है। मुझे विश्वास है कि उनका यह प्रयास अवश्य ही सभी काव्यशास्त्र के प्रेमियों के लिये अत्यन्त लाभप्रद होगा।

(अतुलचन्द्र बनर्जी)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपोद्घात

मनोविनोद मानव ही नहीं, पशु पक्षियों के भी सुखद तथा सफल जीवन का रहस्य है। वर्तमान प्रगतिवादी विश्व में मनोविनोद के न जाने कितने साधन उपलब्ध हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की क्रीडायें प्रमुख हैं तथापि बुद्धिजीवी वर्ग के मनोविनोद के साधन अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक साहित्य-संगीत तथा कला माने जाते रहे हैं । इनमें भी संगीत तथा कला तो स्वर और तूलिका की सृष्टि होने के कारण अपेक्षाकृत ऐन्द्रिक तथा स्थूल हैं, जबकि साहित्य (काव्य) की अन्तःकरणीय अनुभूति के अधिक निकट है । सम्भवतः इसीलिए संस्कृत काव्यमनीषियों ने कहा है--

"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।"

वस्तुतः यह सत्य है; कि आनन्द तथा मनोरंजन 'धीमान्' के लिए सतही स्तर का न होकर ऐसे स्तर का होना चाहिए जो उसकी बुद्धि तथा हृदय का एक साथ स्पर्श करे, क्योंकि प्रत्येक अनुभूति ज्ञानपरक होती है किसी वस्तु में आनंद खोजने के लिए उसके आनन्दानुभावक तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है ।

जहाँ तक संस्कृत काव्य के रसास्वाद का सम्बन्ध है, तो यह निर्विवाद तथा निश्चप्रच है कि उक्त रसास्वाद की गहराई काव्य के शास्त्रीय ज्ञान पर निर्भर करती है अतः काव्यशास्त्र का महत्त्व कम से कम एक बुद्धिजीवी के लिए काव्य से न्यून नहीं है । अपितु शास्त्र भी उसे काव्य के समकक्ष आनन्द प्रदान कर सकता है ।

किसी भी शास्त्र के विषय में उसकी त्रिविध प्रवृत्ति (उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा) तथा अनुबन्ध चतुष्टय के सम्यक् नियोजन का विशेष महत्व होता है । संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने किसी न किसी रूप में उक्त तथ्यों का विचार वैचक्षण्य के साथ किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र की विस्तीर्ण परम्परा को समन्वित तथा समासीभूत करते हुए इस प्रकार समीक्षा का प्रयास किया गया है, कि न तो किसी के प्रति अन्याय हो और न किसी के प्रति अनुचित पूर्वाग्रह । इस दृष्टि से काव्य विषयक मूलभूत बिन्दु-काव्य-लक्षण, हेतु, प्रयोजन, गुण, अलंकार, रीति, तथा छन्द आदि काव्य-सौन्दर्य के प्रमापक प्रतिमान; साहित्यिक समालोचना, काव्य तथा अन्य ललित कलायें और काव्य में शरीर तथा आत्मा विषयक ऊहापोह को ग्रन्थ का प्रतिपाद्य बनाया गया है । इस विवेचन के मध्य अनेक विवाद युक्त तथा मतभेद युक्त प्रश्नो को समादरणीय मनीषी अलंकार शास्त्रियों के ही वचनों द्वारा अपने ढंग से संक्षेप में उत्तरित करने का प्रयास किया गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय समीक्षा पर वर्तमान काल में पर्याप्त ग्रन्थ उपलब्ध होने पर भी यदि यह ग्रन्थ पाठकों तथा छात्रों के कुछ विशिष्ट दे सका तो इसी में इसकी सार्थकता है।

अनन्त चतुर्दशी
सम्वत् 2050

उमेश प्रसाद रस्तोगी

******

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	पृष्ठ
प्रथम अध्याय - काव्य-लक्षण	1-13
द्वितीय अध्याय - काव्य-हेतु	14-27
तृतीय अध्याय - काव्य-प्रयोजन	28-41
चतुर्थ अध्याय - काव्य-गुण	42-62
पञ्चम अध्याय - काव्य-दोष	63-73
षष्ठ अध्याय - काव्य में अलङ्कार योजना	74-93
सप्तम अध्याय - छन्द-योजना	94-112
अष्टम अध्याय - रीति-विवेचन	113-130
नवम अध्याय - काव्य तथा अन्य ललित कलायें	131-140
दशम अध्याय - साहित्यिक-समालोचना	141-150
एकादश अध्याय - काव्यात्म-समीक्षा तथा विभिन्न काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय	151-179
द्वादश अध्याय - उपसंहार	180-187

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम अध्याय

काव्य-लक्षण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम अध्याय

काव्य-लक्षण

किसी भी देश के निवासियों के जीवन-निर्माण में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक-परिस्थितियों तथा दार्शनिक परम्पराओं का महत्त्वपूर्ण योग रहता है, जिसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य तथा कलाकृतियों के माध्यम से होती है और वह काव्य मानव की विविध भावमयी सौन्दर्यशील सांस्कृतिक सम्पन्नता का ही विकसित रूप तथा विचारों का आगार होता है। प्रतिभा से निःसृत रचना ही काव्य नामाभिहित होती है। काव्य प्रकाशकार के अनुसार अनिर्वचनीय आनन्द को उत्पन्न करने वाला कवि का विशिष्ट कर्म ही काव्य कहा जाता है--'लोकोत्तर वर्णनानिपुण कवि-कर्म काव्यम्' काव्य प्रकाश।

मानसिक आधार पर अवलम्बित किसी भी तत्त्व का अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से रहित यथावत् लक्षण प्रस्तुत करना कितना दुष्कर है, यह उन भारतीय ब्रह्म चिन्तकों की "नेति-नेति" प्रक्रिया से स्पष्ट है, जो ब्रह्म का लक्षण देते-देते अन्त में श्रान्त होकर उक्त प्रक्रिया का आश्रय ले बैठे।

'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा।
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥'

अर्थात् ब्रह्म के सदृश अवर्णनीय काव्य का लक्षण निर्धारित करना दुस्साध्य है। वह वर्णगम्य न होकर अन्तःकरणगम्य अधिक होता है। अतः आचार्य कुन्तक ने इसी ओर सङ्केत करते हुए केवल शब्द (पद-पदावली) या केवल अर्थ (श्लेष वक्रोक्ति) से समन्वित किसी रचना को काव्य कहना उचित नहीं माना है- 'पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति'। तथापि आचार्यों ने अपनी-अपनी वर्णन क्षमता से काव्य लक्षण पर विचार करते हुए उसके व्यापकत्व को परिभाषा के वलय में सीमित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।[1]

संस्कृत काव्य-लक्षण-- विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर काव्यगत वैशिष्ट्य को प्रकारान्तर से स्तुतियों के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है। ऋषि, अपनी उक्ति को कहीं हृदयस्पर्शी[2] कहता है तो कहीं वह नवीनता[3] को धारण किए हुए हैं। काव्य भी हृदयस्पर्शी तथा नवीन होता है।

इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद् गीता में वाङ्मय तप का विवेचन विचारणीय है--

---

1. यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्। ---दण्डी-काव्यादर्श 1/2
2. अयं तेस्तोमो अग्रियो हृदिस्पृ-गस्तु शंतमः। ---ऋग्वेद- म० 1, अ० 4 सू० 16, मंत्र- 7
3. (क) इन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्। वही- म० 1, अ० 16, सू० 109, मंत्र 2
   (ख) अयाविधेम नवया महागिरा। वही- म० 2, अ० 3, सू० 24, मंत्र 1

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥" (17/15)

इस उक्ति का यदि काव्य के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो हम उसी वाक्य को काव्य कह सकते हैं जो किसी के लिए उद्वेगकर न हो तथा जिसमें सत्यं शिवं और सुन्दरम् की पूर्ण प्रतिष्ठा व्यक्त हो रही हो । यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जिस सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को काव्य के लिए कतिपय विद्वान् पाश्चात्त्य जगत् की देन मानते हैं, उसका प्रतिपादन श्रीमद्भगवत् गीता में बहुत पहले हो चुका था ।

संस्कृत नाट्यशास्त्र के प्रजापति भरत द्वारा नाट्य सन्दर्भ में प्रदत्त अधोलिखित परिभाषा को प्रकारान्तर से काव्य लक्षण के विषय में निरूपित किया जा सकता है--

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्तयोग्यम् ।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
भवति जगतियोग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ [1]

अर्थात् जो मृदु और ललित पदों से युक्त हो, गूढ़ शब्द और अर्थ से रहित हो, सर्वग्राह्य हो, नृत्य में प्रयुक्त किये जाने योग्य हो, रस की विविधता तथा सन्धियों से युक्त हो वह दर्शकों के लिये दर्शनीय नाटक होता है । भरत का यह नाटक लक्षण काव्य की दृश्य विधा से अधिक प्रभावित है ।

अग्नि पुराण-- काव्य के लिए आवश्यक पांच तत्त्वों को निर्धारित करते हुए अग्नि पुराणकार ने सर्वप्रथम काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है--

'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥ [2]

उक्त पद्य में काव्य के लिये पांच तत्त्व विशेष उल्लेख्य हैं--

इष्टार्थाभिव्ययक्ति, संक्षिप्तता, अलङ्कार योजना गुण का आधान और दोष राहित्य । इस परिभाषा से काव्य के बाह्य स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है उसका आन्तरिक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

भामह-- संस्कृत काव्यशास्त्र के भीष्म पितामह भामह ने काव्य स्वरूप को और अधिक व्याख्यायित करते हुए सूत्र शैली में शब्दार्थ साहित्य को काव्य का लक्षण निर्धारित किया है-

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्

काव्य का यह लक्षण जितना प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त भी । उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है । यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है, क्योंकि इसके क्षेत्र में काव्य के

---

1. नाट्यशास्त्र 16/129
2. अग्निपुराण 337/6

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतिरिक्त सभी शास्त्र, इतिहास तथा साधारण वार्तालाप तक समाहित हो जाते हैं । अर्थात् सम्पूर्ण वाङ्मय के शब्दार्थनिष्ठ होने से अतिव्याप्त दोष से ग्रस्त उक्त लक्षण में काव्य के बाह्य स्वरूप का ही रेखाङ्कन अधिक दृष्टिगत होता है । 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' से भामह का तात्पर्य है कि शब्द और अर्थ दोनों की विशेषता को प्रकट करने वाला दोनों का साहित्य, परन्तु इससे काव्य का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता है ।

यद्यपि आचार्य भामह शब्दतः काव्य के अनुप्राणक किसी आत्मतत्त्व का उल्लेख नहीं करते हैं तथापि वह वक्रोक्ति को काव्य का व्यापक तत्त्व प्रतिपादित करते हैं ।[1] भामह ने अपने से पूर्ववर्ती दो वर्गों का सङ्केत दिया है जिनमें एक अर्थालङ्कार को महत्त्व देता है तथा दूसरा शब्दालङ्कार को, किन्तु भामह दोनों का समान महत्त्व स्वीकार करते हैं ।[2]

दण्डी-- भामह के परवर्ती दण्डी ने यद्यपि 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' को शरीर कहकर भामह के काव्य लक्षण में सुधार करने का प्रयास किया किन्तु वह उसमें प्राण प्रतिष्ठा करने में असफल रहे तथा इस सिद्धान्त को अधिक विकसित नहीं कर पाये उनका काव्य सिद्धान्त भी भामह के सदृश शब्दार्थ युगल को काव्य तथा उसमें अलङ्कारों का प्राधान्य प्रतिपादित करने तक ही सीमित रहा । उनका योगदान इस अंश में अवश्य है कि उन्होंने काव्य स्वरूप के क्षेत्र में 'शरीर' शब्द का प्रयोग करके उत्तरकालीन काव्यशास्त्रियों को काव्यात्मा के अनुसन्धान के लिये प्रेरित किया और जिसके परिणामस्वरूप वामन का 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का प्रसिद्ध सिद्धान्त सामने आया और अन्ततोगत्वा यह विश्वनाथ के काव्य-रूपक का कारण बना । इस विषय में दण्डी का काव्य विवेचन दृष्टव्य है--

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥
तै शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥[3]

प्रकृत स्थल में आचार्य दण्डी ने यद्यपि शब्दतः पद (शब्द) को ही काव्य शरीर कहा है तथापि उन्होंने 'ईष्टार्थव्यवच्छिन्ना' को पदावली का विशेषण बनाकर शब्दार्थ युगलतत्व की ओर ही सङ्केत किया है ।

---

1. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।" --भामह-काव्यालङ्कार 2/65
2. रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपांतिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पतिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।। ---भामह-वही 1/14,15
3. दण्डी-काव्यादर्श 1/9-10.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वामन-- वामन ने भी काव्य का लक्षण स्वतंत्र रूप से कहीं नहीं दिया, परन्तु उन्होंने प्रकारान्तर से गुणों तथा अलङ्कारों के सन्निवेश से वर्द्धित चमत्कार युक्त शब्दार्थयुगल को काव्य माना है । उनका मत है कि काव्य अलङ्कार के कारण ग्राह्य होता है, सौन्दर्य का नाम अलंकार है । काव्य में यह सौन्दर्य दोषों के त्याग तथा गुणों और अलङ्कारों के ग्रहण से आता है । गुणों तथा अलङ्कारों से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है, गौण वृत्ति से भले ही शब्दार्थ मात्र को काव्य कह दिया जाये--

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । सौन्दर्यमलङ्कारः ।
स दोषगुणाऽलङ्कारहानादानाभ्याम् ।
काव्यशब्दोऽयं गुणाऽलङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ।[1]

इस प्रकार वामन ने केवल शब्दार्थ को काव्य नहीं माना, अपितु दोषत्याग और गुणालङ्कार ग्रहण को काव्यस्वरूप में स्थान देकर इन्होंने भोजराज, मम्मट आदि आचार्यों का इस दिशा में पथ प्रदर्शन भी किया है । इससे भी अधिक वामन की एक देन और है और वह है काव्य में गुण तथा अलङ्कार के पार्थक्य और स्वरूप का निर्धारण । उनके कथनानुसार गुण काव्यशोभा के कर्त्ता हैं और अलङ्कार उनके द्वारा उत्पन्न शोभा के वर्धक-

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा : ।[2]

मम्मट के काव्य लक्षण में गुण को नित्य और अलङ्कार को जो अनित्य स्थान प्राप्त हुआ है उसका भी सर्वप्रथम श्रेय वामन को ही है--"पूर्वे नित्याः " । वामन ने दण्डी द्वारा सङ्केतित काव्यशरीर मे आत्मा की स्थापना करते हुए रीति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण उद्घोषणा की--

"रीतिरात्मा काव्यस्य"[3]

वामन की यही स्थापना आगे चलकर काव्य-रूपक मे प्राण प्रतिष्टा करती हुई इस रूपक को पूर्णता का कारण बनी--

"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतायोऽवयव संस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत् ।"[4]

काव्यस्वरूप सम्बन्धी इतने पुष्ट विचार अपने अन्दर समाये हुए भी वामन का यह रीति सिद्धान्त आगे चलकर पूर्ण प्रतिष्टा को न प्राप्त क र सका । विश्वनाथ के अनुसार रीति तो सङ्घटना विशेष है, जिसकी महत्ता काव्य पुरुष के अवयव संस्थान से किसी भी रूप में अधिक नहीं है, वह भला काव्य की आत्मा कैसे कही जा सकती है---

---

1. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति 1/1/1,2,3.
2. वही 3/1/1, 2,.
3. वही 1/2/6.
4. साहित्य दर्पण 1/2 की वृत्ति.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतेः सङ्घटना विशेषत्वात् । सङ्घटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात् आत्मनश्च तदभिन्नत्वात् । (सा०द० 1/2 की वृत्ति) इसी रूपक ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की दिशा बदल दी ।

रुद्रट-- वामन के पश्चात् रुद्रट ने भी भामह की परम्परा का गतानुगतिक न्याय से अनुसरण करते हुए "ननु शब्दार्थौ काव्यम्" कहकर शब्दार्थ निष्टता को ही काव्य का स्वरूप नियत किया है । इस प्रकार काव्य लक्षण निर्धारण को लेकर आचार्य दो वर्गों में विभक्त हो गये प्रथम शब्दार्थ युगल को काव्य मानने वाले आचार्य तथा द्वितीय एकमात्र शब्द को ही काव्य मानने वाले आचार्य ।

आनन्दवर्धन-- आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए भी शब्दार्थ युगल रूप काव्य लक्षण के परम्परा प्राप्त सिद्धान्त से विसंवाद नहीं किया तथा काव्यात्म-विवेचन-प्रसङ्ग में भी सहृदय हृदयाह्लादकारी शब्दार्थ युगल को काव्य का लक्षण निर्धारित किया है ।[1] सहृदय के हृदय को चमत्कृत करने वाले ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व निर्धारित करते हुए काव्य के निर्जीव शरीर में जीवनाधायक तत्त्व का प्रतिस्थापन किया गया है । ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने में कुछ लोगों को आपत्ति थी, उन्हीं के निराकरणार्थ आनन्दवर्धन को ध्वन्यालोक ग्रन्थ के प्रणयन की आवश्यकता पड़ी--

काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥[2]

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य के मत में ध्वनि ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है । उसके बिना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देह के समान त्याज्य हैं । ध्वनि रूपी आत्मा की प्रतिष्ठा होने पर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं ।

राजशेखर-- पूर्वोक्त आचार्यों द्वारा काव्य के सम्बन्ध में अलङ्कार रीति गुणादि की जैसी स्थिति मान्य हुई थी उसी को मूर्त्त रूप प्रदान करते हुए राजशेखर ने लिखा है--

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहूः, जघनमप भ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् । सम प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्त प्रवल्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासो पमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति ।"[3]

उक्त लक्षण में रस को आत्म पद पर प्रतिष्ठित करते हुए भी आचार्य राजशेखर गुण तथ अलङ्कारों के सम्यक् प्रयोग से युक्त वाक्य को ही काव्य का लक्षण निर्धारित करते हैं ।

---

1. (क) सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव कव्यलक्षणम् ।
   (ख) शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम् । --ध्वन्यालोक 1/1 की वृत्ति
2. वही 1/1
3. काव्यमीमांसा- तृतीय अध्याय।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् ।'[1]

कुन्तक-- "वक्रोक्तिः काव्य जीविमत्"-- 'काव्य का जीवित वक्रोक्ति है' यह सिद्ध करके वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक तथा स्पष्टता से काव्य का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है--

"ननु च वाच्य-वाचक सम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोः न कथञ्चिदपि साहित्यविरहः सत्यमेतत किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् । --(वक्रोक्ति जीवित-प्रथमोन्मेष)

अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सदा विद्यमान होने से उसमें साहित्य (सहभाव) का कभी अभाव नहीं होता । फलतः काव्य में शब्दार्थ के साहित्य से अभिप्राय उनके विशिष्ट साहित्य से है जिसमें शब्द और अर्थ की उत्कृष्ट स्पर्धा विद्यमान होती है--

"शब्दार्थौ काव्यं वाचकोवाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम् ।"[2]

शब्दार्थ की यह स्पर्धा एक-दूसरे को अधिक से अधिक ग्राह्य बनाती है । यह स्पर्धा शत्रुता पर आधृत न रहकर मित्रता पर आधृत है--

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥[3]

शब्द का लक्षण भी यही है जो कवि के विशेष रूप से अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने की क्षमता रखता है---

"कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् ।"

जो अभीष्ट अर्थ का वाचक है वही शब्द है जो अपने स्पन्द अर्थात् स्वभाव से सहृदय जनों के लिए आह्लादकारी है वही अर्थ है--

"शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥"[4]

महिम भट्ट-- अनुमितिवादी महिम भट्ट[5] ने काव्य के स्वरूप को कहीं स्पष्ट नहीं किया है । वे ध्वनि का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब कोई वाच्य अथवा उससे अनुमित वाच्यार्थ किसी

---

1. काव्यमीमांसा षष्ठ अध्याय।
2. वक्रोक्तिजीवित- प्रथमोन्मेष.
3. वही प्रथमोन्मेष।
4. वही 1/9.
5. वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ।।

एतद्यानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य । यदुक्तं त्रिरूपलिङ्गाख्यानं पदार्थानुमानमिति । केवलं संज्ञाभेदः काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।

--व्यक्ति विवेक 1/25,26.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य अर्थ को किसी सम्बन्ध से प्रकाशित करता है, तो वह काव्यानुमिति होती है फलतः व्यंग्यार्थ को न मानकर उसके स्थान पर अनुमान और अनुमेयार्थ ही माना जाना चाहिए । महिम भट्ट को काव्य की आत्मा रस मानने में कोई आपत्ति नहीं है किन्तु अनुमेयार्थ के ही रूप में न कि व्यंग्यार्थ के रूप में ।

भोज-- भोज ने "सरस्वती कण्ठा भरण" में प्रसङ्गवश लिखा है कि दोष रहित, गुण सहित, अलङ्कारों से अलङ्कृत और सरस काव्य की रचना करके ही कवि कीर्ति और सुख का अधिकारी होता है--

निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।[1]

भोज ने काव्य में स्वभावोक्ति वक्रोक्ति तथा रसोक्ति में सर्वाधिक महत्त्व रसोक्ति को दिया है--

"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ।।"[2]

क्षेमेन्द्र-- आचार्य आनन्दवर्धन तक आते-आते काव्य लक्षण की चिन्तन धारा उसके शब्दार्थ रूप शरीर की अपेक्षा उसके जीवातुभूत आत्मतत्त्व के अन्वेषण की ओर उन्मुख हो गई थी । अतः आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों ने काव्यस्वरूप के निर्धारण की अपेक्षा उसके आत्म तत्त्व के विवेचन को ही प्रतिपाद्य विषय बनाया ।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार वामन अपने रीति सिद्धान्त के लिए, आनन्दवर्धन ध्वनि सिद्धान्त के लिए तथा कुन्तक वक्रोक्ति सिद्धान्त हेतु विश्रुत हैं, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने औचित्य सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध हैं । उन्होंने औचित्य को ही काव्य का जीवित मानकर औचित्य का लक्षण इस प्रकार निर्धारित किया है--

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।'[3]

अर्थात् जो जिसके अनुरूप होता है आचार्यजन उसी को उचित कहते हैं तथा उचित के भाव को औचित्य क हा जाता है । काव्य की आत्मा यही औचित्य है, इसी का काव्य में सर्वत्र साम्राज्य होने के कारण औचित्य के अनेक भेद हो जाते हैं तथा इसके अभाव के अलङ्कार गुणादि सभी व्यर्थ हैं ।[4]

---

1. सरस्वतीकाण्ठाभरण 1/2.
2. वही 5/8.
3. औचित्य विचार चर्चा 7.
4. काव्यस्यायमलङ्कारः किं मिथ्याजनितैर्गुणैः ।
यस्यजीवितमौचित्यं विचित्त्याऽपि न दृश्यते ।।
अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।। --औचित्यविचार चर्चा, 4, 5

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मम्मट-- आचार्य मम्मट ने समन्वायात्मक दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिये गये काव्यलक्षण को व्यवस्थित करते हुए 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'[1] कहकर उसके स्वरूप को नियत किया है । उनके अनुसार दोषरहित और गुणालङ्कार सहित शब्दार्थ का नाम काव्य है । कहीं-कहीं अलङ्कार के स्फुट न होने पर भी काव्यत्व में कोई क्षति नहीं होती है । स्पष्ट है कि इस लक्षण में शब्दार्थ के तीन विशेषण प्रयुक्त हुए है--अदोषौ, सगुणौ तथा अनलङ्कृती पुनः क्वापि । यद्यपि अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं का अनुसरण किया है, तथापि जयदेव विश्वनाथ तथा जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों ने इनकी कटु आलोचना भी की है ।

'अदोषौ' पद पर आक्षेप करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि काव्य सदैव दोषशून्य नहीं हो सकता है । इसके प्रमाण में उन्होंने ध्वन्यालोक में उद्धृत श्लोक 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' से यह सिद्ध किया है कि जिस श्लोक को ध्वनि प्रधान होने से उत्तम काव्य माना गया है, उसमें भी विधेया विमर्श दोष के विद्यमान होने से उसको उत्तम नहीं कहा जा सकेगा, जबकि उसे श्रेष्ठ काव्य की संज्ञा प्रदान की गयी है । इस आक्षेप के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मम्मट ने दोष शब्द का प्रयोग काव्य प्रतीति के प्रति बन्धक के अर्थ में किया है । यदि काव्य की लक्ष्य सिद्धि में व्यवधान न आये तो दोष उसके काव्यत्व के बाधक नहीं हो सकते ।

'शब्दार्थौ' पर पण्डित राज जगन्नाथ ने आपत्ति प्रदर्शित की है । उनका मत है कि लोक में प्रायः ऐसा सुना जाता है कि काव्य पढ़ा किन्तु समझ में नहीं आया । इससे स्पष्ट होता है कि काव्य से उसका अर्थ भिन्न है । मम्मट के अनुयायियों ने इस आक्षेप का भी खण्डन किया है । महाभाष्य में 'वह अध्ययन किया जाता है तथा समझा भी जाता है ।' यह वाक्य उपलब्ध होता है । इससे काव्य का शब्द तथा अर्थगत उभयत्व सिद्ध हो जाता है ।

'सगुणौ' पद पर पुनः विश्वनाथ ने आपत्ति की है । उन्होंने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि मम्मट गुणों को रस का धर्म मानते हैं, तो फिर उन्होंने इसे शब्दार्थों का विशेषण क्यों बनाया ?

अतः यहाँ सगुणौ का प्रयोग अनुचित है । उनके इस सन्देह का निराकरण करते हुए प्रदीपकार ने प्रतिपादित किया है कि मम्मट के काव्य लक्षण में 'सगुणौ' का प्रयोग गुण व्यञ्जक शब्दार्थ के लिए किया गया है ।

'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' पर जयदेव, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ तीनों ने ही आपत्ति प्रकट की है । परन्तु मम्मट ने अलङ्कृती का प्रयोग अस्फुट अलङ्कारों के अर्थ में किया है, अलङ्कारों के अभाव के अर्थ में नहीं । इस प्रकार मम्मट का काव्य लक्षण अनेक आचार्यों द्वारा आलोचित तथा खण्डित किए जाने पर भी इतना मान्य है कि परवर्ती अधिकांश विद्वानों ने उनकी परिभाषा का अनुसरण किया है ।

वाग्भट-- वाग्भट ने लिखा है--

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥[2]

---

1. काव्यप्रकाश, 1/4
2. वाग्भटालङ्कार 1/2.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् यश प्राप्ति के निमित्त कवि को श्रेष्ट शब्द और अर्थ से गुम्फित, प्रसादादि गुणों तथा चित्रादिक शब्दालङ्कारों और उपमादिक अर्थलङ्कारों से विभूषित तथा स्फुट गौडी आदि रीतियों और श्रङ्गारादि रसों से युक्त काव्य की रचना करना चाहिए ।

इस प्रकार वाग्भट ने काव्य में समस्त तत्त्वों का सम्मिश्रण निहित किया है ।

हेमचन्द्र-- आचार्य हेमचन्द्र की काव्यानुशासन में दी हुई परिभाषा काव्यप्रकाशकार की पद्धति पर आधृत है--

'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।'[1]

इससे एक साथ दोष राहित्य, गुण तथा अलङ्कारों का साहित्य अनिवार्य हो जाता है । ऐसी दशा में काव्य के एकं सीमित क्षेत्र को ही यह परिभाषा अपने भीतर समेट पाती है ।

यदि कहीं पर स्फुट रूप से अलंकार नहीं है तथा ध्वनि है तो वह काव्य भी इसकी परिधि में समाहित नहीं हो पायेगा ।

जयदेव-- आचार्य जयदेव ऐसी वाणी को काव्य की संज्ञा देते हैं जो कि समस्त विशिष्ट तत्त्वों से समन्वित, दोष से रहित, रीति-गुण से भूषित, अलंङ्कार रस तथा वृत्तियों के सन्निवेश से युक्त हो ।[2] आचार्य मम्मट के द्वारा निर्धारित काव्य लक्षण के अंश "अनलङ्कृती" का व्यंग्य रूप से खण्डन करते हुए वह काव्य में अलङ्कारों की सत्ता निर्बाध रूप में स्वीकार करते हैं तथा अनुष्ण अग्नि के सदृश अलङ्कारहीन काव्य को स्वीकार करना उपहास पूर्ण मानते हैं--

"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥"[3]

विश्वनाथ-- काव्य में वाग्वैदग्ध्य (वचन चातुरी) का प्रधान्य कितना ही हो किन्तु उसका जीवित तो रस ही होता है । इस विषय में अग्नि पुराणकार का मत दृष्टव्य है--

"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।"[4] इस मन्तव्य को ध्यान में रखते हुए ही सम्भवतः आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के लक्षण को रसात्मकता के आधार पर लक्षित किया है--

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।"[5]

रसात्मकता में निःसन्देह गुणालङ्कार की सहितता का भी समावेश हो जाता है । विश्वनाथ ने रस का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया है, जिसमें कि भाव, तदाभासादि सभी समाहित हैं । वस्तु व्यंग्य का ग्रहण-रसाभास के द्वारा हो जाता है--

---

1. हेमचन्द्र- काव्यानुशासन- प्रथम अध्याय
2. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
   सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ।। --चन्द्रालोक 1/7
3. वही 1/8.
4. अग्नि पुराण
5. साहित्य दर्पण 1/3

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत् ?
अत्रापि रसाभासवत्तयैव ब्रूमः ।[1]

काव्य के अन्य तत्त्वों की उपेक्षा के कारण इस लक्षण पर अव्याप्ति दोष से दूषित होने का बहुधा आरोप किया जाता है ।

केशव मिश्र-- इन्होंने काव्य लक्षण के विषय में 'काव्यं रसादिमद्वाक्यम्' कहकर आचार्य विश्वनाथ का ही अन्धानुकरण किया है ।[2] फलतः इनके मत में कोई मौलिकता नहीं है ।

जगन्नाथ-- अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों द्वारा निर्धारित काव्य लक्षण से सर्वथा विलक्षण शब्द को ही काव्य मानने वाले पण्डितराज जगन्नाथ रमणीयता को काव्यत्व का आवश्यक धर्म प्रतिपादित करते हैं रसगङ्गाधर में उनके द्वारा दिया गया काव्य लक्षण नितान्त महत्त्वपूर्ण है--

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।'[3]

अर्थात् रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं ।

उसी रमणीयता को वामन ने सौन्दर्य, दण्डी ने इष्टार्थ और आनन्दवर्धन तथा कुन्तक ने लोकोत्तर आह्लाद की संज्ञा से अभिहित किया है । जगन्नाथ के भी शब्दों में रमणीयता का अर्थ है--

"लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता ।"[4]

यहाँ पर रमणीयता के द्वारा पण्डितराज जगन्नाथ प्रकारान्तर से रस को ही काव्यात्म रूप में प्रतिष्ठित करते हुए रसध्वनि का ही परम रमणीयत्व सिद्ध करते हैं ।[5]

इस प्रकार काव्य-लक्षण के आधार पर आचार्यों के मुख्यतः तीन वर्ग हो जाते हैं-- (क) शब्दार्थ वादी (ख) शब्द मात्र को काव्य मानने वाले तथा (ग) काव्यात्मवादी ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि काव्य लक्षण के सन्दर्भ में शब्दार्थवादी आचार्य काव्य को शब्द तथा अर्थ से व्यासज्यवृत्ति से सम्बन्धित मानते हैं । उनका मत है कि काव्य को केवल शब्दनिष्ठ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत से शब्द निरर्थक भी होते हैं । शब्दार्थवादी आचार्यों में भामह, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र तथा जयदेव आदि ने 'शब्दार्थौ सहितौकाव्यम्' के आधार पर शब्द एवं अर्थ को समान महत्त्व प्रदान किया है ।

एक मात्र शब्द को ही काव्य मानने वाले आचार्य "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इस

---

1. साहित्य दर्पण 1/2 की वृत्ति
2. अलङ्कार शेखर- प्रथम रत्न, प्रथम मरीचि
3. रसगङ्गाधर- प्रथम आनन
4. वही- प्रथम आनन
5. (क) पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेरस्तदात्मारसस्तावदभिधीयते ।-- रसगङ्गाधर प्रथम आनन
   (ख) परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमानः प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम् ।
   --वही - प्रथम आनन.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मीमांसा सूत्र से काव्य को शब्दनिष्ठ कहने पर भी लक्षणा से उसमें अर्थ का सन्निवेश स्वीकार करते हुए शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित करते हैं तथा काव्य के शब्दनिष्ठ कहने से उसकी अर्थनिष्ठता स्वयं प्रकट हो जाती है। इस वर्ग में आचार्य दण्डी तथा पण्डितराज जगन्नाथ मुख्य हैं।

तृतीय वर्ग काव्यात्मवादियों का है जिन्होंने काव्यात्मा ('रीतिरात्मा काव्यस्य' आदि) के आधार पर काव्य लक्षण प्रस्तुत किया है। इनमें वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र तथा विश्वनाथ आदि प्रमुख हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वितीय अध्याय

काव्य-हेतु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वितीय अध्याय

काव्य-हेतु

जहाँ सृष्टि है, वहाँ उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है, चाहे वह ईश्वर की चराचरात्मक जागतिक सृष्टि हो, अथवा मनुष्य की अपनी कल्पना शक्ति तथा प्रयत्न से निर्मित कोई भौतिक वस्तु। यही कारण है, कि स्थूल भौतिक तथा वस्तुवादी चिन्तन से लेकर सूक्ष्मतम आध्यात्मिक चिन्तन की पराकाष्ठा तक कार्यकारण का सिद्धान्त शाश्वत-यथार्थ के रूप में प्रतिष्ठित है ।

जहाँ तक काव्य का प्रश्न है, तो वह उस कवि की अनिन्द्य अनुपम प्रतिभा से निःस्यूत एक विलक्षण सृष्टि है, जिसे भारतीय मनीषियों ने काव्य संसार का प्रजापति कहा है । यही नहीं वह विधाता की सृष्टि से उपादानों को चुन-चुन कर अपनी इच्छा तथा क्षमता के अनुसार जैसा चाहे, वैसा परिवर्तित कर सकता है--

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥[1]

सम्भवतः काव्य-सृष्टि की यह विलक्षणता ही मम्मट जैसे महामनीषी विद्वान् को यह मानने पर विवश कर सकी--

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्रां
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥[2]

विधाता की सृष्टि को भी पीछे छोड़ देने वाली कवि की वाणी-काव्य की सृजन प्रक्रिया तथा उसमें कारणभूत हेतु भी निश्चित रूप से विलक्षण ही होंगे इसमें सन्देह नहीं ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि काव्य के वे हेतु क्या है ? उनका स्वरूप क्या है ? वे कितने प्रकार के हो सकते हैं ? तथा, काव्य की रचना में ये पृथक्-पृथक् कारण होते हैं अथवा समुदित रूप से ?

संस्कृत काव्यशास्त्र में इन सभी प्रश्नों पर पर्याप्त चिन्तन तथा विश्लेषण हुआ है । सामान्यतः काव्य रचना के लिए जिस क्षण कवि की मानसिक प्रवृत्ति का उदय होता है, उसी क्षण काव्य की रचना प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है, उसकी रचना विषयक अन्तिम परिणति शब्दार्थ के चारूत्वयुक्त सहभाव के रूप में होती है । परन्तु, यदि और सूक्ष्मता से विचार किया जाए, तो रचना धर्मिता की सार्थकता मात्र उसके आकार एवं रूपनिर्माण में नहीं, अपितु सहृदय के रसास्वाद तथा सुधी समालोचक के सन्तोष में है । इस दृष्टि से काव्य के कारणभूत तत्त्वों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है-- क, बाह्य कारण या प्रेरक कारण, ख, निमित्त कारण, तथा ग, उपादान कारण।

(क) **बाह्य कारण--** बाह्य कारण वे हैं, जिनका सम्बन्ध कवि के अपने व्यक्तित्व तथा रचना के

---

1. ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत परिकर श्लोक
2. काव्यप्रकाश 1-1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षमताविषयक पक्ष से नहीं होता, तथापि उनके बिना काव्य-सृजन सम्भव नहीं, अतः उन्हें कारण स्वीकार करना अनिवार्य है । ये कारण कवि की प्रेरणा का आधार होने के कारण प्रेरक कारण कहे जा सकते हैं । कवि को अपने परिवेश में जो पर्यावरण जन्य परिस्थितियाँ प्राप्त होती है, उनसे उसकी भावात्मक संवेदना आघातित होती है । संवेदना कवि की व्यक्तिगत अनुभूति जन्य भी हो सकती है तथा सह-अनुभूति जन्य भी । अस्तु, निमित्त तथा उपादान उपस्थित होने पर भी इन प्रेरक कारणों के अभाव में कवि की अनुभूति को अभिव्यक्ति नहीं मिल पाती । अथवा यह कह लिया जाए, कि अनुभूति को अभिव्यक्ति से सम्बद्ध करने वाले ये ही कारण है ।

(ख) **निमित्त कारण--** जिस प्रकार इस जगत् का निमित्त कारण ईश्वर तथा घटादि का निमित्त कारण कुम्भकार आदि होता है, उसी प्रकार काव्य का निमित्त कारण कवि है । दूसरे शब्दों में कृति का कर्ता ही उसका निमित्त कारण होता है । किन्तु एक बात यहाँ विचारणीय है, कि चाहे ईश्वर हो, कुम्भकार हो अथवा कवि; व्यक्ति निमित्त होता है अथवा उसकी शक्ति । वस्तुतः ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति कुम्भकार की कल्पना तथा कवि की प्रतिभा ही निमित्त होती है । काव्य का निमित्त कारण, प्रतिभा व्यापक होती है जिसकी चर्चा काव्य हेतुओं के निर्णय के प्रसङ्ग में की जाएगी; किन्तु यह निश्चित है, कि निमित्त कारण की स्थिति आधार जैसी होती है ।

(ग) **उपादान कारण--** काव्य के उपादान हैं कवि का ज्ञान भण्डार तथा औचित्यपूर्ण शब्दार्थ के संयोजन की अनवरत साधना जिसे संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास पद से अभिहित किया है । वस्तुतः काव्य के उपादान को समग्र रचना-विन्यास की सामग्री के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है ।

इस प्रकार सामान्यतः काव्य रूप कार्य के ये तीन कारण होते हैं । काव्यशास्त्रीय शब्दावली में काव्य के कारणभूत प्रतिमान को हेतु पदवाच्य स्वीकार किया गया तथा प्रायः अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने जिन-जिन काव्य हेतुओं की चर्चा की, उनका सीधा सम्बन्ध काव्य की रचना प्रक्रिया से है । भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से काव्य हेतुओं की चर्चा की है । भरत ने नाट्यवेद के उपदेश्य पात्रों की विशेषताओं के प्रसङ्ग में वैदग्ध्य, प्रागल्भ्य तथा जितश्रमत्व की चर्चा की है ।[1] तत्पश्चात् भामह ने भी अप्रत्यक्ष रूप से ही काव्योत्पत्ति में प्रतिभा के महत्त्व को दर्शाते हुए कवि कर्म में प्रवृत्त होने वाले को व्यापक अध्ययन तथा निरन्तर अभ्यास (काव्यक्रियादरः) का उपदेश किया है ।[2] दण्डी ने काव्य सम्पत्ति (समृद्धकाव्य) के लिए नैसर्गिकी प्रतिभा शास्त्रादि से उत्पन्न निर्मलता तथा प्रमादरहित (अमन्द) निरन्तर अभियोग (अभ्यास) को 'कारण' माना ।[3]

---

1. इतिहासो मया दृष्टः स सुरेषु नियुज्यताम् ।
   कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः ।
   तेष्वायं नाट्यसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ।। ना०शा० 1/19-20
2. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ।
   शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्
   विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।।
3. काव्यादर्श- 1/103

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काव्यशास्त्र के क्रान्त चेता वामन ने सूत्ररूप में 'लोको विद्या प्रकीर्णञ्च' कह कर लोकशास्त्र का ज्ञान विद्याभ्यास तथा लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्धसेवा अवेक्षण, प्रतिमान तथा अवधान इन छः प्रकीर्ण तत्त्वों को काव्य में कारण माना । रुद्रट ने शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के त्रितय को काव्य करण में हेतु बताया । आनन्दवर्धन ने यद्यपि शब्दतः काव्य हेतु अथवा कारण का उल्लेख नहीं किया, किन्तु ध्वनि काव्य के स्वरूप विश्लेषण के प्रसङ्ग में उन्होंने व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता वाले महान् कवियों की 'विशेष प्रतिभा' की चर्चा की है । यत्र तत्र अस्फुट रूप से अन्यत्र भी आनन्दवर्धन ने काव्यहेतु का सङ्केत किया है, जिसकी प्रसङ्गानुसार चर्चा की जाएगी । अभिनव गुप्त ने भी आनन्दवर्धन के विचारों का समर्थन किया । राजशेखर ने समाधि, अभ्यास तथा प्रतिभा को काव्य में कारण मानते हुए समाधि तथा अभ्यास को प्रतिभा का उद्भासक स्वीकार किया है ।[1]

उक्त काव्यशास्त्रियों के अतिरिक्त कुन्तक महिमभट्ट, मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव, पण्डितराज, आदि काव्यशास्त्रियों ने काव्यकारण पर विचार किया ।

परम्परागत अध्ययन से काव्यहेतु विषयक शास्त्रीय-विश्लेषण जिन निष्कर्षभूत तथ्यों को उद्भासित करता है उन्हें इस प्रकार बिन्दुबद्ध किया जा सकता है--

1. सभी काव्यशास्त्रियों ने मुख्य रूप से प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को काव्य हेतु माना ।

2. तीनों हेतुओं के संयोजन की दृष्टि से काव्यशास्त्रियों में मतभेद है जो निम्नलिखित रूपों में द्रष्टव्य है ।

(क) कुछ काव्यशास्त्री केवल प्रतिभा को ही काव्य हेतु मानते हैं ।

(ख) कुछ विद्वान् प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति को काव्य हेतु मानते हैं ।

(ग) कुछ लक्षणकारों ने प्रतिभा तथा अभ्यास को काव्य हेतु माना ।

(घ) कुछ काव्यशास्त्र तत्त्वज्ञों ने तीनों में से किसी एक को मुख्य तथा शेष दो को गौण अथवा सहायक माना ।

(ङ) कतिपय काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को समान रूप से काव्य का हेतु माना । इनमें भी दो श्रेणियाँ वर्गीकृत की जा सकती हैं--

1. वे काव्यशास्त्री, जिन्होंने समुदित रूप से तीनों को काव्य का हेतु बताया ।

(च) राजशेखर आदि कतिपय विद्वानों ने 'समाधि' के काव्य हेतुत्व की चर्चा भी की, जो इनसे बहुत पूर्व वामन के 'प्रकीर्ण' नामक काव्य हेतु के अन्तर्गत 'अवधान' के रूप में उल्लिखित है ।

उक्त तथ्यों की समीक्षा से पूर्व प्रतिभा व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के स्वरूप, इनके काव्यहेतुत्व तथा तत्तद्विषयक अन्य प्राप्त विवेचन की चर्चा कर लेना प्रासङ्गिक तथा आवश्यक है, अतः क्रमशः इनका पृथक्-पृथक् समीक्षात्मक उपन्यास किया जा रहा है ।

---

1. काव्य मीमांसा 1/4

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिभा-- प्रतिभा कवि में जन्मजात संस्कार के रूप में विद्यमान क्षमता अथवा शक्ति है, जो प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती । यह कवित्व का बीजरूप है ।[1] वामन ने इस प्रतिभा को जन्मान्तरागत कोई संस्कार विशेष माना है, जिसके बिना या तो काव्य की निष्पत्ति ही नहीं होती । और यदि होती भी है तो उपहास का विषय होती है--

कवित्वस्यबीजं कवित्वबीजं जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्, यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते निष्पन्नं वा हास्याऽयतनं स्यात् ।[2]

यहाँ 'कश्चित्' पद के द्वारा वामन ने एक ओर तो प्रतिभा रूप संस्कार का विरल होना सङ्केतित किया है, तो दूसरी ओर 'प्रतिभा' के प्रति अपना सभादरपूर्ण पक्षपात भी व्यक्त किया है । रुद्रट ने इसी को शक्ति पद से अभिहित कर इसकेस्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है । उनके अनुसार शक्ति वह है जो समाधि (एकाग्र) युक्तमन में एक ही अभिधेय का अनेक प्रकार से विस्फुरण करने की क्षमता रखती हो तथा जिसमें अक्लिष्ट पदों की अनायास अभिव्यक्ति हो ।[3]

वामन तथा रुद्रट ने प्रतिभा का जो स्वरूप निदर्शित किया, उसमें अन्तर केवल क्रम का है । संस्कार विशेष के रूप में जो प्रतिभा बीजवत् अन्तस्थ होती है, वही उद्भिन्न होकर द्वितीय अवस्था में अभिव्यक्ति की क्षमता रूप में बहिरुन्मुख हो उठती है । उसकी अपर विकास की दशा उस 'प्रज्ञा' के रुप में अङ्कुरित होती है, जिसे रुद्रट के परवर्ती आनन्दवर्धन ने महान् कवियों की वाणी में 'निष्यन्दमान' होते हुए देखा । यह दशा अभिव्यक्ति की व्यक्त अवस्था है, जो एकाग्र मन में संहित रचना का बहिःस्फुरण है, काव्य निर्माण की क्षमता रूप प्रज्ञा है । जैसा कि ध्वन्यालोक के सुधी टीकाकार अभिनव गुप्त ने स्पष्ट किया--

"प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्याः विशेषो सरसावेशवैशद्य सौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम् ।"[4]

राजशेखर ने प्रतिभा के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर अभिनव गुप्त से कुछ अधिक स्फुट रूप में उसको लक्षणबद्ध करने का प्रयास किया-

या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।[5]

अर्थात् जो कवि के हृदय में पदार्थरूप में दृश्यमान न होते हुए भी शब्द अर्थ अलङ्कारतन्त्र, उक्तिमार्ग तथा अन्यान्य एतादृश तत्त्वों को प्रतिभासित करती है वह प्रतिभा है । इस दृष्टि से प्रतिभा ही वह तत्त्व है, जो कवि को काव्यरचना के उपादान अविद्यमान होते हुए भी प्रत्यक्षवत् भासित होते हैं ।

---

1. कवित्ववीजं प्रतिभानम् । काव्यलङ्कार सूत्रवृत्ति--1-3-16
2. वही 1-3-16
3. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकथाभिधेयस्य ।
   अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ।। काव्यालङ्कार 1/15
4. ध्वन्यालोक लोचन 1/6
5. काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मम्मट ने वामन की भाँति शक्ति को कवित्वबीजरूप संस्कार विशेष स्वीकार किया [1] जबकि हेमचन्द्र ने प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के रूप मे परिभाषित किया ।[2]

प्रतिभा और शक्ति-- काव्य में कवित्वबीज रूप से विद्यमान संस्कार को किसी ने शक्ति तथा किसी ने प्रतिभा पद से अभिहित किया है । सामान्यतः समालोचकों की अवधारणा यही है, कि प्रतिभा तथा शक्ति अभिन्न हैं, किन्तु राजशेखर ने स्पष्ट रूप से प्रतिभा तथा शक्ति को पृथक् तत्त्व स्वीकार किया है । उन्होंने समाधि तथा अभ्यास के योग से शक्ति को उत्पन्न माना तथा प्रतिभा और व्युत्पत्ति के साथ काव्य के अन्यतम हेतु के रूप में उसकी गणना की । उन्होंने शक्ति को कर्तृ रूप तथा प्रतिभा और व्युत्पत्ति को कर्मरूप स्वीकार किया--

. . . . . विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम् । शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी । शक्तस्य प्रतिभाति शक्तस्य व्युत्पद्यते ।[3]

इस प्रकार राजशेखर शक्ति तथा प्रतिभा में जनक-जन्यभाव मानते हुए यह सिद्ध करना करना चाहते हैं, कि समाधि और अभ्यास से प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है । सम्भवतः उत्पत्ति से उनका अभिप्राय उन्मेष से है जन्यत्व से नहीं, क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर राजशेखर की उक्त विचारधारा को निराधार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिभा के बीजरूप अथवा संस्कार रूप में निक्षिप्त होने पर भी तथा शास्त्र का व्यापक ज्ञान होने पर भी एकाग्रता तथा अभ्यास के अभाव में वे उद्‌बुद्ध नहीं हो सकेंगे । शक्ति को प्रतिभा के स्थान पर काव्य हेतु स्वीकार करने वाले रुद्रट आदि आचार्य तथा प्रतिभा पद से उसे अभिहित करने वाले आनन्दवर्धन आदि आचार्यों में तात्त्विक रूप से मतवैभिन्य नहीं प्रतीत होता । बात केवल इतनी है, कि 'शक्ति' पद का सङ्कीर्तन करने वाले काव्य के हेतु रूप में संस्कार विशेष को तथा प्रतिभा का उद्‌घोष करने वाले उस संस्कार के परिस्फुरण रूप विशेष प्रज्ञा को मान्यता प्रदान करते हैं । समग्र रूप में काव्य हेतुत्व के मूल में चाहे प्रतिभा को मानें अथवा शक्ति को कथ्य में कोई विसङ्गति उपस्थित नहीं होती । अतः पदभेद के जाल में पड़ना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । आचार्य केशवमिश्र ने समाहार करते हुए दोनों के अभेद को स्पष्टतः कहा है ।[4]

प्रतिभा के भेद-- यद्यपि प्रतिभा कवित्व का प्राणभूत तत्त्व है, जो कविकर्म का अपरिहार्य अङ्ग है, तथापि उसे कुछ अलङ्कारशास्त्रियों ने अनेक प्रकार की स्वीकार किया है । रुद्रट तथा राजशेखर इनमें प्रमुख हैं ।

सर्वप्रथम रुद्रट ने सहजा तथा उत्पाद्या भेद से प्रतिभा के दो प्रकारों का उल्लेख किया । सहजा प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त तथा पूर्वजन्म के संस्कारों द्वारा सञ्चित जन्मजात शक्ति है । उत्पाद्या प्रतिभा लोकानुभव, शास्त्राध्ययन तथा सत्सङ्गादि से प्राप्त होती है ।

राजशेखर ने काव्य की हेतुभूत प्रतिभा का केन्द्र केवल काव्यस्रष्टा को ही नहीं माना, अपितु काव्य का भावयिता, उसका रसास्वादन करने वाला अथवा मूल्याङ्कन करने वाला भी उसी अनुपात में

---

1. काव्य प्रकाश, 1/3 की वृत्ति
2. नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा प्रतिभा । काव्यानुशासन ।
3. काव्यमीमांसा
4. शक्तिः पुण्यविशेषः स एव प्रतिभोच्यते । - अलङ्कारशेखर प्रथमरत्न, प्रथम मरीचि ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिभावान् होना चाहिये, क्योंकि काव्य की समग्ररूपता में कवि, काव्य और सहृदय का त्रिकोणात्मक आकार बनता है । दूसरे शब्दों में काव्य के निर्माण में हेतु कारयित्री प्रतिभा तथा उसके रसास्वाद में हेतु भावयित्री प्रतिभा है । कारयित्री प्रतिभा भावयित्री भी हो सकती है किन्तु काव्य-विशेष विषयक भावयित्री प्रतिभा कारयित्री नहीं हो सकती । राजशेखर-सम्मत प्रतिभाभेदों कारयित्री तथा भावयित्री[1] को अभिनवगुप्तपादाचार्य ने आख्या तथा उपाख्या नाम से सम्बोधित किया है ।

कारयित्रीप्रतिभा को राजशेखर ने पुनः 3 उपभेदों में विभाजित किया है--

सहजा, आहार्या, तथा औपदेशिकी या औपाधिकी ।

वे सहजा प्रतिभा को रुद्रट की भाँति ही जन्मजात शक्ति के रूप में मानते हैं । आहार्या ही उत्पाद्या प्रतिभा है । मन्त्रतन्त्रों के उपदेश से उत्पन्न प्रतिभा औपदेशिकी कहलाती है । स्वाभाविक न होकर उपाधि रूप से प्राप्त होने के कारण इसे औपाधिकी कहते हैं । इनमें श्रेष्ठ तो सहजा प्रतिभा ही है, जो पूर्वजन्म के सञ्चितसंस्कारों से प्राप्त जन्मजात होती है तथा अल्पश्रम से ही उद्‌बुद्ध हो जाती है । आहार्या इसी जन्म के संस्कार से जन्य होने के कारण अत्यधिक अभ्यास से उन्मिषित होती है तथा औपाधिकी प्रतिभा अस्वाभाविक रूप से आरोपित किए जाने के कारण विलम्ब से प्राप्य तथा अस्थायी होती है ।

कारयित्री प्रतिभा के दो रूप दृष्टिगत होते हैं-- (क) गुणात्मक । (ख) परिमाणात्मक ।

प्रतिभा का गुणात्मक रूप कवि को अपनी मौलिक उद्‌भावना, अलौकिक अन्तर्दृष्टि तथा भाव वस्तु एवं शैली गत विलक्षणता से युक्त श्रेष्ठ काव्य का स्रष्टा होने का गौरव प्रदान करता है । जबकि परिमाणात्मक रूप प्रतिभा का विस्तार काव्ययरचना की मात्रात्मक अभिवृद्धि में करता है । यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि दोनों गुणों का एकत्र अवस्थान न हो; तथापि एक श्रेष्ठ रचना के द्वारा भी सहस्रों अवर रचनाओं के कर्ता की अपेक्षा अधिक यशस्वी होता है । गुणात्मक दृष्टि से कवियों का वर्गीकरण करते हुए राजशेखर ने वाल्मीकि व्यासादि के समान मौलिक भावव्यञ्जना करने वाले कवियों को श्रेष्ठ, मौलिकता की मात्रा न्यून होने पर अनुहरण द्वारा नवीन रचना की क्षमता वाले कवियों को मध्यम तथा भाव और पदविन्यास का चौर्य करने वाले अपरिपक्व काव्यशैली द्वारा काव्य को विद्रूप बना देने वाले कवियों को अधम कोटि का माना है । विक्रमाङ्कदेवचरित में ऐसे कवियों (चौर्य करने वाले) से सदैव सतर्क रहने की अपेक्षा की गई है--

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं
काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय
काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥[2]

इस प्रकार कारयित्री प्रतिभा द्वारा ईश्वरीय सृष्टि को कवि शब्दार्थ के माध्यम से सहज सम्प्रेषणीय बनाता है ।

---

1. कारयित्रीभावयित्र्यावितीमे प्रतिभाभिदे । काव्यमीमांसा चतुर्थ अध्याय
2. विक्रमांङ्क 1/11

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भावयित्री प्रतिभा-- भावयित्री प्रतिभा काव्य का आस्वाद तथा उसका यथार्थ मूल्याङ्कन करने में हेतु होती है । इस दृष्टि से राजशेखर इसे भी काव्यहेतु मानते हैं ।

"भावकस्य उपकुर्वाणा भावयित्री (सा) हि कवेः श्रममभिप्रायञ्च भाववयति । तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः । अन्यथा सोऽवकेशी स्यात् ।"[1]

तात्पर्य यह है कि भावयित्री प्रतिभा कवि के श्रम तथा अभिप्राय का भावन करती है । इस प्रकार यह पाश्चात्य धारणा, कि जो कवि नहीं बन पाता, वह काव्यालोचक बन जाता है, (corruption of a poet is birth of a critic), समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि आलोचक होने के लिए जिस प्रतिभा की अपेक्षा होती है, आवश्यक नहीं कि वह एक असफल कवि में हो ही ।

इस प्रकार प्रतिभा को काव्य का प्रथम हेतु माना गया, तथा प्रायः सभी अलङ्कारशास्त्रियों ने इसे समादृत किया । इस प्रकार कारयित्री तथा भावयित्री दोनों प्रतिभायें समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं ।[2]

व्युत्पत्ति अथवा निपुणता-- प्रतिभा के विषय में जितना वैविध्य विवेचन में परिलक्षित होता है, उतना व्युत्पत्ति में नहीं । व्युत्पत्ति एक प्रकार का नैपुण्य, वैचक्षण्य या कुशलता है, जो लोकानुभव तथा शास्त्रेतिहासादि के अध्ययन से प्राप्त काव्यकरण के अनुकूल व्यापार के औचित्यपूर्ण विवेक का परिणाम है । व्युत्पत्ति के द्वारा प्रतिभा का परिष्कार होता है तथा वह मर्मस्पर्शिनी और सारग्राहिणी हो उठती है । संस्कृत काव्यशास्त्रियों में व्युत्पत्ति के विषय में दो प्रकार की धारणा प्रचलित है । प्रथम के अनुसार व्युत्पत्ति प्रतिभा की परिपोषक होकर काव्य में हेतु है, तथा द्वितीय के अनुसार वह पृथक्तः काव्य हेतु है । दण्डी; वामन आदि काव्यशास्त्री इस श्रेणी में आते हैं । प्रथम मत के समर्थक मुख्यतः ध्वनिवादी आचार्य हैं । ध्वन्यालोककार का मत है कि व्युत्पत्ति विषयक दोष को शक्ति द्वारा दूर किया जा सकता है ।[3]

व्युत्पत्ति का लक्षण बतलाते हुए रुद्रट ने छन्द व्याकरण तथा अन्य पदार्थज्ञान से उत्पन्न उचितानुचितविवेक को,[4] राजशेखर ने उचितानुचितविवेक को तथा बहुज्ञता को,[5] और मम्मट[6] तथा हेमचन्द्र[7] ने लोकशास्त्र काव्यादि के अवेक्षण से उत्पन्न प्रवीणता को व्युत्पत्ति कहा है । शास्त्रीय विवेचन के आधार पर व्युत्पत्ति के दो भेद किए जा सकते हैं-

---

1. काव्यमीमांसा अध्याय-4
2. कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवाऽपरस्तां, कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।
   नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानामेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः ।
3. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
   ध्वन्यालोक 3/6 परिकरश्लोक --वही- चतुर्थअध्याय
4. छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्-
   युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।। काव्यालङ्कार 1/18
5. उचितानुचिविवेकों व्युत्पत्तिः । काव्यमीमांस-पञ्चम अध्याय
6. निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यप्रकाश 1/3
7. लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः । काव्यानुशासन - 1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(क) लोकानुभव तथा लौकिकशास्त्रों के ज्ञान से उत्पन्न व्युत्पत्ति वह तत्त्व है, जो कवि को विविध विषयक रचना के उपादान उपलब्ध कराता है । फलतः प्रत्येक दिशा में कवि वाणी अव्याहत निरवच्छिन्न अप्रतिबद्ध होकर विचरण करती है--

प्रसरति किमपि कथञ्चन
नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य ।
इदमेव तत्कवित्वं
यद्वाचः सर्वतोदिक्का ॥[1]

अभ्यास-- प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति ही काव्य की रचना में पर्याप्त नहीं, अपितु अभ्यास भी आवश्यक है, क्योंकि अभ्यास के अभाव में प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है तथा व्युत्पत्तिप्रसुप्त हो जाती है । अभ्यास का अभिप्राय है अपने से पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन तथा अनवरत काव्य रचना । कुछ काव्यालोचक व्युत्पत्ति तथा अभ्यास में सूक्ष्म अन्तर स्वीकार करते हुए व्युत्पत्ति को शास्त्रेतर काव्यादि विषयक अध्ययन से सम्बद्ध करते हैं, किन्तु इस सङ्गति को मानने पर मम्मटादि द्वारा उक्त 'निपुणता काव्याद्यवेक्षणात्-' इस कथन की सार्थकता सन्दिग्ध हो जाएगी ।

अभ्यास के विषय में भामह ने 'तद्विदुपासनम्' तथा 'काव्यक्रियादरः' पदों द्वारा अपना मत व्यक्त किया है ।[2] काव्य के श्रवण, अनुशीलन तथा निरन्तर अभ्यास द्वारा सरस्वती की उपासना करने पर वह अवश्य अनुग्रह करती हैं, ऐसी दण्डी की धारणा है--

कृष्टो कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः
विदग्धगोष्ठीषु विहर्त्तुमीशते ॥[3]

वामन का मत है कि अभ्यास के बिना जो मन दोलायमान रहता है वही अभ्यास के द्वारा सरस्वती को सिद्ध कर लेता है--

आधानोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः ।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥[4]

रुद्रट ने प्रतिभावान् कवि को भी तथा सम्पूर्ण ज्ञेय विषयों को ज्ञात करने वाले परम व्युत्पन्न कवि को भी सुजन सुकवि की सन्निधि में निरन्तर अभ्यास करने का उपदेश किया है--

अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौनियतम् ।
नक्तंदिनमभ्यसेदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम् ॥[5]

---

1. काव्यमीमांसा अध्याय - 5
2. शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्स्नं तद्विदुपासनम् ।
   विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥ —काव्यालङ्कार
3. काव्यादर्श 1/115
4. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 1/3/15
5. काव्यालङ्कार 1/20

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मम्मट आदि आचार्यों ने 'काव्यस्य करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरभ्यासः' कह कर अभ्यास में आवृत्ति को आवश्यक माना है ।[1]

राजशेखर ने अविच्छिन्न रूप से शीलन को अभ्यास कहा है तथा वह सर्वगामी सर्वत्र निरतिशय कौशल को उत्पन्न करने वाला होता है-

अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः । सहि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते ।[2]

राजशेखर के उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार वे सहृदय तथा काव्यालोचक की भावयित्री प्रतिभा को भी काव्य में हेतु मानते हैं, उसी प्रकार कवि की ही भाँति सहृदय तथा काव्यालोचक द्वारा भी पौनः पुन्येन काव्यानुशीलन रूप अभ्यास अवश्यकरणीय होता है । अभ्यास द्वारा ही वे वाचकवाच्य तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जक प्रपञ्च को सम्यक् ग्रहण कर सकते हैं ।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के अतिरिक्त वामनोक्त प्रकीर्णान्तर्गत उद्यम, अवेक्षण, वृद्ध सेवा तथा मनोयोग भी काव्य में हेतु हैं । वामन ने मनोयोग या अवधान को जिस रूप में परिभाषित किया है, उसी को राजशेखर ने समाधि माना । यहाँ तक कि, किसी बिन्दु पर वे समाधि को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि जब कवि मनोयोग से समाहित चित्त से काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तभी किसी सारस्वत महारहस्य का समुन्मीलन होता है--

सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यम् ।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः ॥[3]

इस प्रकार प्रतिभा व्युत्पत्ति तथा अभ्यास ये तीन काव्य के प्रमुख हेतु हैं । तीनों के गुण प्राधान्य अथवा सममहत्त्व के निर्णय हेतु तीनों हेतुओं के विषय में काव्यशास्त्रियों की वरीयता अथवा आग्रह पर विचार करना आवश्यक है । जैसा कि पूर्वविवेचन किया जा चुका है कि कुछ आचार्य केवल प्रतिभा को कुछ किन्हीं दो को तथा कुछ तीनों को काव्य हेतु स्वीकार करते हैं। कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो किसी एक को प्रमुख तथा अन्य को गौण अथवा प्रमुख के सहयोगी के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः इनकी क्रमशः चर्चा कर लेना उपयुक्त है ।

प्रतिभा को एक मात्र हेतु माने वाले आचार्य-- केवल प्रतिभा को काव्य हेतु मानने वाले काव्यशास्त्रियों में भामह, आनन्दवर्धन, राजशेखर, क्षेमेन्द्र तथा पण्डितराज जगन्नाथ हैं । भामह का कथन है कि--

---

1. काव्यप्रकाश 1/3 वृत्ति
2. काव्यमीमांसा चतुर्थ अध्याय
3. काव्यमीमांसा - चतुर्थ अध्याय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ।'

यहाँ तु तथा जातु पद से प्रतिभा के प्रति भामह का पक्षपात व्यक्त हो रहा है । आनन्दवर्धन तो 'अलोकसमान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्' कहकर सत्काव्य के लिए प्रतिभा को ही एक मात्र हेतु सिद्ध करते हैं । इसी प्रकार राजशेखर 'सा केवलं काव्य हेतुः' कहकर शक्ति को एकमात्र काव्य हेतु स्वीकार करते हैं । पण्डितराज तो राजशेखर को भी अतिक्रान्त कर केवल कविगत प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं--

'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा ।'

उक्त विवेचन का तात्पर्य यह नहीं कि ये काव्यशास्त्री व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करते । अपितु इनमें से भामह के कथन का तात्पर्य यह है कि केवल शब्दार्थ ज्ञान मात्र से काव्य सृजन सम्भव नहीं अपितु प्रतिभा का होना प्रथम शर्त है । आनन्दवर्धन का कथन है कि अव्युत्पत्तिकृत दोष का शक्ति संवरण कर लेती है--

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते परः ।

यहाँ भामह की विचारधारा से कुछ विपरीत तथ्य है । वह यह कि, यदि व्युत्पत्ति नहीं भी है तो प्रतिभा उसे छिपा लेती है । दशरूपककार धनञ्जय ने प्रकारान्तर से प्रतिभा विशेष को काव्य सृजन में हेतु स्वीकार किया है--

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः ।
धारयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ।[1]

क्षेमेन्द्र तो प्रतिभाहीन कवि की तुलना उस गर्दभ तथा अन्ध से करते हैं जो सिखाए जाने पर भी न तो गा सकता है और प्रकाश दिखाने पर भी सूर्य को भी नहीं देख सकता--

न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि
संदर्शितं पश्यतिनार्कमन्धः ॥

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को कहीं लोकशास्त्रादिजन्य व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से तथा कहीं देवताप्रसादादि से उत्पन्न बताया है । इस दृष्टि से पण्डिराज राजशेखर के मत से प्रभावित प्रतीत होते हैं ।

समीक्षा के आधार पर कहा जा सकता है कि जो केवल प्रतिभा को काव्य हेतु स्वीकार करते हैं वे भी कहीं न कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी परम्परया काव्यहेतु स्वीकार ही करते हैं । उनके कथन का अभिप्राय इतना ही प्रतीत होता है कि काव्य-सृजन में साक्षाद् हेतु केवल प्रतिभा है ।

हेतु में गुणप्राधान्य मानने वाले आचार्य-- इस वर्ग में अधिकांश वे काव्यशास्त्री हैं, जो उक्त तीनों काव्य हेतुओं में से किसी एक को मुख्य तथा शेष दोनों को प्रथम का उपकारक, संस्कारक अथवा परिपोषक मानते है । इनमें से प्रमुख वामन, रुद्रट वाग्भट, हेमचन्द्र आदि हैं । वामन लोक

---

1. दशरूपक - 1/3

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्या तथा षड्विध प्रकीर्ण काव्य हेतुओं में प्रतिभा को मुख्य तथा शेष को उसका उपकारक मानते हैं। रुद्रट ने शक्ति को मुख्य तथा अनिवार्य हेतु माना है। व्युत्पत्ति तथा अभ्यास हेतु हो भी सकते हैं और कदाचित् नहीं भी। वाग्भट[1], हेमचन्द्र[2], जयदेव[3], केशव मिश्र[4] आदि भी इसी मत के पोषक हैं किन्तु वे व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक मानते हैं।

हेतुत्रय को स्वीकार करने वाले आचार्य-- प्रतिभा व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को प्रमुख रूप से काव्य हेतु मानने वाले आचार्यों में भरत[5], दण्डी रुद्रट[6] मम्मट आदि हैं। दण्डी ने तीनो हेतुओं के समुदित रूप में काव्य-सृजन में साधनत्व को स्वीकार करने का सङ्केत सर्वप्रथम किया--

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याःकारणं काव्यसम्पदः ॥'[7]

मम्मट ने दण्डी का अनुवर्तन करते हुए इसे अपनी वृत्ति द्वारा स्पष्ट किया--

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।"
- - - - - - - - - - - - - - - - - '—हेतुर्नहितवः'[8]

निष्कर्ष-- इस प्रकार काव्य हेतु विषयक संस्कृतकाव्यशास्त्रीय विवेचन के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि काव्य सृजन में कारणभूत तत्त्व हेतु कहलाते हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के त्रिविध हेतु है। यद्यपि कुछ आचार्यों का आग्रह प्रतिभा के प्रति है तो कुछ का व्युत्पत्ति के प्रति और कुछ तीनों को समुदित रूप में काव्य का हेतु मानते हैं, किन्तु निष्पक्ष विचार करने से स्पष्ट होता है, कि भले ही तीनों में से किसी का न्यूनाधिक्य हो जाए किन्तु तीनों में से एक के भी आत्यन्तिक अभाव में काव्य-सृजन की अविच्छिन्न गति सम्भव नहीं। समाहार रूप से कहा जा सकता है, कि उत्कृष्ट काव्य-रचना के लिए तीनों का अन्यूनानतिरिक्तत्व अपेक्षित है, किन्तु एक अथवा दो के अभाव में भी मध्यम तथा अवर काव्य की रचना सम्भाव्य है।

---

1. वाभटालङ्कार 1/3
2. काव्यानुशासन प्रथम अध्याय
3. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
   हेतुर्मुदम्बुसम्बद्धा बीजमाललतामिव ॥
   चन्द्रालोक 1/6
4. तद्हेतुः प्रतिभादिकम्। अलङ्कारशेखर 1/1
5. नाट्यशास्त्र, 1/19,20
6. तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
   त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥
   --रुद्रट-काव्यलंकार 1/14
7. काव्यादर्श 1/103
8. काव्य प्रकाश 1/3

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृतीय अध्याय

काव्य-प्रयोजन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृतीय अध्याय

काव्य-प्रयोजन

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते

'क' इतिहासपक्ष--

मानव बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । फलतः काव्य का भी कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए । संस्कृत काव्यशास्त्री प्राचीन काल से अनुबन्ध चतुष्टय के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसका विवेचन करते रहे हैं । नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने नाट्य (काव्य) के प्रयोजनों[1] का बहुत विस्तार से विवेचन करते हुए बताया कि यह धर्मानुयायियों का धर्म, कामोपसेवियों का काम, उद्दण्ड व्यक्तियों के लिए निग्रह, विनम्र की दमक्रिया, नपुसंकों के लिए दृढ़ता, शूर-वीर मनस्वी लोगों के लिए उत्साह, अज्ञानियों का ज्ञान, विद्वानों का वैदुष्य, ऐश्वर्य सम्पन्न लोगों का विलास, दुःखार्त का धैर्य, अर्थी का अर्थ, अनेक प्रकार के रस, भाव अवस्था वृत्तान्तों एवं व्यवहारों का प्रतिपादक तथा हितकारी उपदेश करने वाला शान्तिप्रद, यशकारी एवं बुद्धि विबर्द्धक होता है । सच

---

(1) धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीतां विनीतानां दमक्रिया ।
क्लीबानां धार्ष्ट्यजनन-मुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ।
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो यह है कि वह कौन सा ज्ञान है, कौन सी विद्या है, कौन शिल्प एवं कला है अथवा कौन कर्म है जो कि इसका विषय न हो । [1]

इस प्रकार भरतमुनि के अनुसार काव्य के प्रयोजन बहुत व्यापक हैं वह (काव्य) न केवल धर्मार्थकाम (त्रिवर्ग) का साधक है अपितु साथ ही साथ नाना प्रकार के लौकिक व्यवहारों, कल्याणकारक उपदेशों का प्रतिपादक है तथा बुद्धि, यश व आयु की वृद्धि करने वाला भी है । भामह अपने पूर्वज भरतमुनि की परम्परा के सच्चे अनुयायी हैं । भरत द्वारा प्रतिपादित नाट्य (जो कि काव्य का एक अंग है) के प्रयोजनों को उन्होंने व्यापक रूप से काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हुए कहा कि कोई भी ऐसा शब्द, अर्थ न्यास, अथवा कला नहीं जो कि काव्य का अंग न बनता हो[2]। उनके अनुसार उत्कृष्ट कोटि का काव्य पुरुषार्थ चतुष्टय (धमार्थकाममोक्ष) एवं सम्पूर्ण कलाओं में विचक्षणता उत्पन्न करता है[3] तथा अमिट यश एवं आनन्द को प्रदान करता है । [4] इस प्रकार भामह ने भरत के द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों में मोक्ष को सम्मिलित करके त्रिवर्ग [5] के स्थान पर चतुर्वर्ग को स्वीकार किया तथा कलाचातुर्य एवं काव्य आनन्द के विषय में भरत के अस्पष्ट उल्लेख (धृतिक्रीड़ा सुखादिकृत) को " वैचक्षण्यं कलासु च" तथा "प्रीति" इत्यादि पदों का प्रयोग करके स्पष्टता प्रदान की । किन्तु भामह ने "प्रीति " (आनन्द) के स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया । दण्डी ने पहले तो यश को केवल काव्य का प्रयोजन बतलाया है [6] किन्तु आगे चलकर काव्य प्रयोजन में तथा महाकाव्य के स्वरूप को बतलाते हुए एक अन्य स्थान में कहा कि इसको लोकरञ्जक होना चाहिए[7]। सम्भवतः

---

(1) लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति — नाट्यशास्त्र -1/109-115.
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

--ना० शा. 1/116

(2) न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यासो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ।।

--काव्यालंकर (भामह)5/4

(3) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम् ।।

--भामह-काव्यालंकार 1/2

(4) अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ।।

भामह-काव्यालंकार 1/8

(5) भरत काव्य प्रयोजनों में त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) को ही मान्यता देते हैं मोक्ष को नहीं । वे इस विषय में अपने पूर्ववर्ती अग्निपुराण से प्रभावित प्रतीत होते हैं । अग्निपुराण में त्रिवर्ग को ही काव्य प्रयोजन माना गया है ।

"त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत्"-- अग्निपुराण 338/7

(6) आदिराजयशोबिम्बमादर्श प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ।।

(7) सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति ।।

---काव्यादर्श 1/19

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वे 'आनन्द' को भी इसके अन्तर्गतमानना चाहते थे । उद्भट इस विषय में मौन हैं वामन[1] ने काव्य प्रयोजनों के दो भेद किये हैं (1) दृष्ट (2) अदृष्ट । काव्य दृष्ट प्रयोजन वाला इसलिए है क्योंकि यह प्रीति प्रदान करता है तथा अदृष्ट प्रयोजन इसलिए है क्योंकि इससे यश की प्राप्ति होती है । रुद्रट[2] के अनुसार काव्य से न केवल कवि को यश की प्राप्ति होती है अपितु साथ ही साथ आश्रयदाता राजा को भी कल्पान्तस्थायी अमिट ख्याति मिलती है । यश के अतिरिक्त पुरुषार्थसिद्ध, महान् सुख अमंगलनाश, रोगविमुक्ति अथवा जो कुछ भी इष्ट हो सब की प्राप्ति होती है ।

आचार्य आनन्दवर्द्धन[3] ने काव्य प्रयोजन का विवेचन अलग से नहीं किया है । ध्वनि का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि सहृदय लोगों की 'प्रीति के लिए ही वे उसके स्वरूप को बतला रहे हैं । इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः आचार्य की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन प्रीति (आनन्द) प्रदान

---

(1) काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थम्, प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।।५।।
काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं, प्रीतिर्हेतु त्वात् ।
अदृष्ट प्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात् । अत्र श्लोकाः--
प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।
अकीर्तिवर्तनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ।।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ।।
तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च व्यपोहितुम् ।
काव्यालङ्कारशास्त्रार्थः प्रसाद्य कविपुङ्गवैः ।।

--वामन-- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-1/1/5.

(2) ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।।
तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम् ।।
अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति ।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र ।।
अर्थमनर्थोपशमं शममसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ।।
नुत्वा तथाहि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम् ।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम् ।।
तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यन्द्विरविकलां कुशलैः ।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्त्तव्यं काव्यममलमलम् ।।

काव्यादर्श- 1/4-5,7,9,12

(3) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व ...
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ।।

छबन्यालोक 1/1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करना था । ध्वन्यालोक पर महत्वपूर्ण लोचनटीका लिखने वाले प्रसिद्ध आचार्य अभिनव गुप्त [1] ने प्रस्तुत स्थल की व्याख्या करते हुए शंका प्रकट की कि काव्य से प्रीति के अतिरिक्त कीर्ति इत्यादि दूसरे फल भी तो होते हैं, उनको क्यों नहीं कहा, 'सहृदयमनः प्रीतये' कहकर केवल आनन्द को ही क्यों प्रधानता दी । इस प्रकार शंका करने के उपरान्त वे इसका समाधान कवि एवं पाठक दोनों की दृष्टि से करते हुए कहते हैं कि इन दोनों का ही प्रदान लक्ष्य है 'प्रीति' (आनन्द) प्राप्त करना अन्य सब प्रयोजन इन्हीं में पर्यवसित हो जाते हैं ।

प्रसिद्ध समीक्षक राजशेखर के मत में काव्य विद्या का प्रयोजन प्रजा की हितकामना[2] तथा यश प्राप्ति[3] है । ब्रह्मा ने काव्य पुरुष को तीनों लोकों में प्रजाओं के हित के लिए काव्यविद्या के प्रसार के लिए भेजा था ।

धनञ्जय एवं धनिक दशरूपक[4] में व्यंग्यात्मक ढंग से अपने पूर्व वर्तियों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि कतिपय काव्यालोचक अल्प बुद्धि के कारण से आनन्दनिष्न्दि रूपकों में पुरुषार्थचतुष्टय को प्रयोजन मान लेते हैं-- यह उनका अज्ञान है, ऐसे उन स्वादुपराङ् मुख लोगों को हमारा नमस्कार है । इस प्रकार धनञ्जय एवं धनिक की दृष्टि से काव्य का एकमात्र प्रयोजन आनन्द प्रदान करना है । धर्मार्थकाममोक्ष तो इतिहास आदि के प्रयोजन हैं न कि काव्य के ।

---

(1) तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या यदाह
'कीर्तिं' स्वर्गफलामाहुः इत्यादि । श्रोतृणां च व्युत्पत्तिप्रीत्ती
यद्यपि स्तः, यथोक्तम्-- धर्मार्थका ममोक्षेषु-- इत्यादि
तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो
वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेति सादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः
कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितलक्षणो
विशेष इति प्राधान्येन आनन्द एवोक्तः । चतुर्वर्ग
व्युत्पतेरपि चानन्द एव पार्यान्तिकं मुख्यं फलम् ।।

ध्वन्यालोकलोचन-- अभिनव गुप्त

(2) तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं
भूर्भुवस्स्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः
काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त ।"-- काव्य मीमांसा- प्रथम अध्याय ।

(3) यस्थेत्थं धीः प्रगल्भा स्रपयति सुकवेस्तस्य कीर्तिं जगति ।।

(4) आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तमै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ।।

तत्र केचित्-- "धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं
कलासु च । कीर्तिं करोति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्" " इत्यादि ना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तांश्रेरासेन स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलम् न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् ।

नमः इति सोल्लुण्ठम् ।। --दशरूपक 1/6 वृत्ति सहित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वक्रोतिजीवितकर कुन्तक [1] (कुन्तल) ने काव्य के तीन प्रयोजन बतलाये हैं--

(1) सरल एवं सुबोध शैली से राजपुत्रों को पुरुषार्थसिद्धि का उपाय बतलाना(2) पाठकों को उचित व्यवहार की शिक्षा तथा (3) लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराना । कुन्तक द्वारा प्रतिपादित ये सभी प्रयोजन पाठक की दृष्टि से हैं । इनमें कवि के पक्ष की उपेक्षा की गई है ।

अथ महिमभट्ट अनुमिति की स्थापना एवं ध्वनि के खण्डन में इतना अधिक व्यस्त हो गए कि उन्होंने कहीं भी काव्य प्रयोजन पर अलग से विचार नहीं किया है । महाराज भोज [2] ने वामन की पद सरणि का अनुसरण करते हुए काव्य के दो प्रयोजन निर्दिष्ट किए हैं-- (1) कीर्ति (2) प्रीति । इनके बाद के प्रसिद्ध काव्य समीक्षक क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तकों औचित्यविचार चर्चा एवं कविकाण्ठाभरण में काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख नहीं किया है । प्रत्येक क्षेत्र में औचित्य का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने अवश्य कहा कि उससे काव्य मनोहर हो जाता है ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में मम्मट [3] कृत काव्य प्रयोजन विश्लेषण सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध हैं। उन्होंने काव्य के छै प्रयोजन बतलाये हैं-- (1) यश (2) अर्थ प्राप्ति (3) व्यवहारज्ञान (4)अमङ्गलनाश (5) लोकोत्तर आनन्द (6) सरल, सुगम एवं रोचक शैली में उपदेश । इन नाना प्रयोजनों में भी मम्मट को सम्भवतः सर्वाधिक मान्य 'सद्यः परनिर्वतये' (लोकोत्तर अनन्द की प्राप्ति) था तभी वे काव्यप्रकाश की वृत्ति में लिखते हैं-- काव्य रसास्वादन के तुरन्त बाद उत्पन्न वेद्यान्तरशून्य परमानन्द ही काव्य के प्रयोजनों में मौलिभूत है । [4]

मम्मट के उत्तर कालीन प्रकाण्ड पण्डित रुय्यक ने अलंकार सर्वस्व में काव्य प्रयोजन का वर्णन नहीं किया है । एक अन्य पुस्तक साहित्य मीमांसा [5] (जिसके विषय में मतभेद है कि यह रूय्यक रचित साहित्य मीमांसा ही है या अन्य रचित) में काव्यानन्द को काव्य का प्रयोजन बतलाया गया है। वाग्भट्ट रूय्यक के उत्तरवर्ती हैं । इन्होंने 'काव्यं कुर्वीत कीर्तये' कहकर कीर्ति (यश) को ही एक मात्र

---

(1) धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।। --वक्रोक्तिजीवित- 1/2-

(2) निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।। --सरस्वतीकण्ठाभरण -1/2-

(3) काव्यं यशसेर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।। - का० प्र० 1/2

(4) सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् ।।
--काव्यप्रकाश 1/2 की वृत्ति

(5) साहित्यं सपरिष्कारं कविना परिकल्पितम् ।
भावयन् रसिको लोके सुखमत्यन्तमश्नुते ।। --सहित्य मीमांसा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काव्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है [1] वाग्भट्ट के ही समसामयिक जैनाचार्य हेमचन्द्र [2] ने काव्य के तीन प्रयोजन निर्दिष्ट किये हैं (1) यश (2) आनन्द तथा (3) कान्तातुल्यतया उपदेश । दूसरे एवं तीसरे प्रयोजनों के विषय में ये मम्मट से प्रभावित दृष्टियोचर होते हैं । इन तीनों प्रयोजनों के इन्होंने तीन वर्ग किये हैं । (1) कवि विषयक (2) सहृदयविषयक (3) उभयविषयक । कीर्ति (यश) केवल कवि को ही प्राप्त होती है । कान्तासम्मिततया उपदेश का लाभ केवल पाठक (सहृदय) को मिलता है तथा लोकोत्तर आनन्द (ब्रह्मास्वाद सदृशी प्रीति) कवि एवं पाठक दोनों को होता है ।

हेमचन्द्र के उत्तरवर्ती आचार्यों जयदेव (चन्द्रालोक), भानुदत्त (रसतरङ्गिणी), विद्याधर (एकावली), विद्यानाथ (प्रतापरुद्रयशोभूषण), तथा वाग्भट्ट द्वितीय (काव्या नुशासन) इत्यादि ने या तो काव्य प्रयोजन का विवेचन ही नहीं किया या उसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है । काव्य प्रयोजन के विषय में विश्वनाथ का मत अवश्य दृष्टव्य है । उनके अनुसार चूंकि काव्य के द्वारा चतुर्वर्ग [3] के फल की प्राप्ति अल्पधी लोगों को भी सरलता से हो जाती है इसलिए काव्य की महती उपयोगिता है । मानवजीवन में चतुर्वर्ग की व्यावहारिक आवश्यकता का तिरस्कर नहीं किया जा सकता है । चूँकि काव्य के द्वारा इनके फल की प्राप्ति सरल एवं रोचक ढँग से हो जाती है इसलिए काव्य का जीवन में परम प्रयोजन है

विश्वनाथ के उत्तरवर्तियों में रूपगोस्वामी (उज्ज्वलनीलमणि), केशवमिश्र (अलंकार शेखर), शोभाकर (अलंकारत्नाकर) अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा) तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रमुख हैं । इनमें से रूपगोस्वामी एवं अप्पयदीक्षित ने काव्य प्रयोजन का वर्णन नहीं किया है केशवमिश्र [4] ने इसका वर्णन किया है । उनके अनुसार काव्य का प्रयोजन हित करना होता है तथा

---

(1) साधुशब्दार्थसंदर्भ गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ।। --वाग्भटालङ्कार--1/2

(2) काव्यमानंदाय- यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च ।
सद्यो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः ।
इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदयोः काव्यप्रयोजनम् ।
यशस्तु कवेरेव । (अन्तिमस्तु) सहृदयानां प्रयोजनम् ।'
--काव्यानुशासन - प्रथमोऽध्यायः

(3) चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।
चतुर्वगफलप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते ।
परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।, - साहित्य दर्पण
1/2 वृत्ति सहित

(4) हितायसुकविः कुर्यात् ------ ।।
सुकवेरेव हितमन्यस्य तु प्रतिकूलं तत् । तदुक्तं--
गीर्गीः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः । दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ।।
हितमाह श्रीपादः--
लाभः पूजा ख्यातिर्धर्मः कामश्च मोक्षश्च । इष्टानिष्टप्राप्तित्यागौ ज्ञानं फलानि काव्यस्य ।।
--अलंकारशेखर-- प्रथमरत्न, प्रथम मरीचि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह हित कवि का ही होता है किसी अन्य का नहीं । पण्डितराज जगन्नाथ [1] के मत में काव्य के अनेक प्रयोजन हैं जैसे कि कीर्ति, परमाह्लाद; गुरु, राजा तथा देवता की प्रीति इत्यादि ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि संस्कृतकाव्यशास्त्र के अत्यन्त प्रारम्भिककाल से काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया जाता रहा है । कुछ काव्यालोचक काव्य की व्यावहारिक उपयोगिता पर अधिक बल देते हैं तो कुछ काव्यात्मक आनन्द को परम लक्ष्य मानते हैं । कतिपय विद्वानों ने दोनों के समन्वय पर बल दिया है । कुछ विद्वान इसको केवल कविपरक मानते हैं, कुछ पाठक परक भी। इन सम्पूर्ण प्रयोजनों को विश्लेषण करने के उपरान्त हम देखते हैं कि निष्कर्ष रूप में संस्कृत अलंकार शास्त्र में कुल प्रयोजनों का योग निम्न प्रकार है--

(1) धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष (चतुर्वर्ग फल प्राप्ति) [2]

(2) कलाओं में निपुणता [3]

(3) कीर्ति (यश) [4]

---

(1) तत्र कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः ----- ।
---रसगङ्गाधर -- प्रथम आनन

(2) 'क' धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कर्म: कामोपसेविनाम्---
अर्थश्च जीविनामर्थो-- नाट्यशास्त्र
'ख' त्रिवर्ग साधनं नाट्यम् -- अग्निपुराण
'ग' धर्मार्थकाममोक्षेषु -- भामह
'घ' धर्मादिसाधनोपायः -- कुन्तक
'ङ' चतुर्वर्गफलप्राप्तिः -- साहित्यदर्पण
'च' तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यद्भिरविकलां कुशलैः--, रुद्रट

(3) 'क' न सा विद्या नसा कला नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते-- ना० शा०
'ख' वैचक्षण्यं कलासु च -- भामह
'ग' न स न्यायो न सा कला । जायते यत्र काव्याङ्गम् . . . . . ।। -- भामह

(4) 'क' यशस्यं - ना० शा०
'ख' करोति कीर्तिं -- भामह
'ग' आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ।। दण्डी
'घ' काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थम् प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् -- वामन
'ङ' स्फुटमाकल्पनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि - रुद्रट
'च' सुकवेस्तस्य कीर्तिं जगति -- राजशेखर
'छ' रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति
--सरस्वतीकण्ठाभरण- भोज
'ज' काव्यं यशसे-मम्मट
'झ' काव्यं कुर्वीत कीर्तिये -- वाग्भट्ट
'ञ' काव्यं आनन्दाय यशसे-- हेमचन्द्र
'त' 'तत्र कीर्ति परमाह्लाद----प्रयोजनकस्य काव्यस्य'--- जगन्नाथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(4) प्रीति [1] (आनन्द -- काव्यरसास्वाद लोकोत्तरानन्द

(5) व्यावहारिक ज्ञान [2]

(6) अमङ्गलनाश [3]

(7) कान्ता सदृश उपदेश [4]

(8) आयु एवं बुद्धिवर्द्धक [5]

(9) लोक हितकारक [6] संस्कृत के आचार्यों ने फलप्राप्ति एवं उपयोगिता इत्यादि के आधार पर इन प्रयोजनों का वर्गीकरण करने की चेष्टा की है । आचार्य वामन के मत में प्रयोजन दो प्रकार के होते हैं-- (1) दृष्ट प्रयोजन (2) अदृष्ट प्रयोजन । 'प्रीति' एक दृष्ट प्रयोजन है क्योंकि इसका अनुभव

---

(1) 'क' धृतिक्रीडासुखादिकृत् -- ना० शा०
'ख' करोति प्रीतिं च भामह
'ग' काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थम् , प्रीति कीर्ति हेतुत्वात् -- वामन
'घ' शमसमम् -- रुद्रट
'ङ' सहृदयमनःप्रीतये -- आनन्दवर्द्धन
'च' प्राधान्येन आनन्द एवोक्तः -- अभिनव गुप्त
'छ' आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु -- धनञ्जय, धनिक
'ज' काव्यामृतारसेनान्तश्चमत्कारे -- कुन्तक
'झ' कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं चविन्दति -- भोज
'ञ' सद्यः परनिर्वृतये -- मम्मट
'ट' 'भावयन् रसिको लोके सुखमत्यन्तमश्नुते' -- रुय्यक
'ठ' काव्यमानन्दाय -- हेमचन्द्र
'ड' तत्र कीर्तिपरमाह्लाद ---- प्रयोजनकस्यकाव्यस्य -- जगन्नाथ

(2) 'क' व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ।। -- कुन्तक
'ख' व्यवहारविदे -- मम्मट

(3) 'क' अनर्थोपशमम् -- रुद्रट
'ख' शिवेतरक्षतये -- मम्मट

(4) 'क' धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः -- कुन्तक
'ख' कान्तासम्मिततयोयदेशयुजे -- मम्मट
'ग' कान्तातुल्यतयोपदेशाय -- हेमचन्द्र
'घ' चतुर्व्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । काव्यादेव --- विश्वनाथ

(5) आयुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्-- भरत

(6) 'क' हितोपदेशजननं ---- ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति । भरत
लोकोपदेशपजननं नाट्यमेतद् भविष्यति
'ख' अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति -- रुद्रट
'ग' प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त- राजशेखर
'घ' हिताय सुकविः कुर्यात् -- केशवमिश्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रत्यक्ष और शीघ्र (तात्कालिक) होता है जबकि 'कीर्ति' अदृष्ट प्रयोजन है क्योंकि इसकी प्राप्ति परोक्ष तथा विलम्ब से होती है । तथा 'कीर्ति स्वर्ग फलामाहु' के द्वारा तो यहाँ तक सिद्ध होता है कि इसकी प्राप्ति जीवनोपरान्त हो सकती है । इससे ऐसा सूचित होता है कि सम्भवतः वामन प्रयोजनों को द्विधावर्गीकृत करना चाहते थे-- (1) इहलौकिक (2) पारमलौकिक । प्रथम तो वे जिनकी प्राप्ति इसी लोक में जीवन में ही हो जाती है तथा द्वितीय वे जिनकी प्राप्ति जीवनोपरान्त परलोक में होती है ।

धनञ्जय एवं धनिक ने दूसरे दृष्टिकोण से प्रयोजनों का द्विधा वर्गीकरण किया है--

(1) शास्त्रीय प्रयोजन (2) काव्यगत प्रयोजन । चतुर्वर्गफल प्राप्ति (धर्मार्थकाममोक्ष) शास्त्र के प्रयोजन हैं । काव्य का प्रयोजन तो लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराना है । इससे यह सूचित होता है कि सम्भवतः धनञ्जय एवं धनिक संस्कृत काव्यालोचकों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों की दो कोटियाँ मानना चाहते हैं (1) व्यावहारिक (Practical) (2) काव्यानन्दपरक (Aesthetic) धर्मार्थकाममोक्ष, कलाचातुर्य्य, व्यवहार ज्ञान, कीर्ति, एवं शिवेतरक्षति इत्यादि को व्यावहारिक प्रयोजन' के अन्तर्गत तथा 'प्रीति (लोकोत्तर आनन्द) को 'काव्यानन्दात्मक' प्रयोजन मानना चाहिए। इस विषय में उन्होंने उन लोगों पर आक्षेप किया है जोकि 'धर्मार्थकामोक्षेषु' द्वारा शास्त्रीय (व्यावहारिक) प्रयोजन को काव्य के अन्तर्गत मानते हैं ।[1]

आचार्य रुद्रट ने (i) कवि, [2] (ii) राज्याश्रय [3] एवं (iii) पाठक [4] ये तीन पक्ष माने हैं । उनके अनुसार काव्य से कवि को तो यश की प्राप्ति होती ही है साथ ही साथ उस राजा को भी अमिट ख्याति मिलती है जिसके आश्रय में वह काव्य लिखा गया है । राजा के द्वारा निर्मित भव्य प्रासाद एवं भवन तो कालक्रम से नष्ट हो जाते हैं, उनका नाम भी पृथ्वी पर से मिट जाए यदि उनके आश्रय में लिखे गए काव्य न हों ।

प्रसिद्ध काव्यालोचक अभिनवगुप्त रुद्रट के उपर्युक्त दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं । उनके अनुसार रुद्रटाभिमत काव्य प्रयोजन के तीन पक्ष (कवि, राज्याश्रय, पाठक) में से दो ही को मानना पर्याप्त है-- (1) कवि (2) पाठक [5] । राज्याश्रय या अन्य पक्षों का अन्तर्भाव 'पाठक' में किया जा सकता है। कवि को काव्य की रचना करके यश मिलता है जिससे कि अन्ततोगत्वा उसको आनन्द की प्राप्ति होती है । पाठक को काव्य रसास्वादन से 'आनन्द' मिलता है ।

---

(1) तत्र कोचित् -- "धर्मार्थकाममोक्षेषु . . . . . ." इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन स्वयसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलम् न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रिमिति दर्शितम।' ---दशरूपक -- 1/6 अवलोक टीका

(2) ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।। काव्या 1/4

(3) अत्र 'अपिना राज्याश्रयो ध्वनितम् --- काव्यालंकार 1/-5-6

(4) अन्योपकारकरणम् --- काव्यलंकार 1/7

(5) तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या । श्रोतृणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः . . . . .तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् ।। --ध्वन्यालोकलोचन 1/1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैनाचार्य हेमचन्द्र काव्य प्रयोजनों के कवि एवं पाठक की ही दृष्टि से तीन वर्ग करते हैं-- (1)कवि निष्ठ (2) पाठक निष्ठ (3) उभय निष्ठ । काव्य से यश की प्राप्ति केवल कवि को होती है-- 'यशस्तु कवेरेव' । कान्तातुल्योपदेश का लक्ष्य पाठक है । 'अन्तिमस्तु सदृदयानां प्रयोजनम्' । काव्य से लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति एक ऐसा प्रयोजन है जो कवि और सहृदय दोनों को होती है-- "इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदयोः काव्यप्रयोजनम्" ।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य प्रयोजनों के दो (कवि-पाठक) अथवा अधिक से अधिक तीन पक्ष -- कवि, पाठक, राज्याश्रय हो सकते हैं । जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से ये व्यवहारिक (Practical) शास्त्रीय अथवा काव्यानन्दात्मक (Aesthetic) दो प्रकार के कहे जा सकते हैं । फल प्राप्ति की दृष्टि से भी इनके दो वर्ग हो सकते हैं वे प्रयोजन जिनके फल की प्राप्ति इसी जीवन में (दृष्ट-ऐहिक) हो जाती है दूसरे वे जिनकी प्राप्ति जीवनोपरान्त (अदृष्ट -- परलौकिक) होती है ।

प्रश्न यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिपादित उपर्युक्त नाना प्रयोजनों में से किसको काव्य का 'परम प्रयोजन" माना जाए । इस विषय में जहाँ तक चतुर्वर्ग फल प्राप्ति इत्यादि व्यवहारिक प्रयोजनों की बात है वे मुख्यतः शास्त्रीय है, काव्य के प्रधान प्रयोजन नहीं हो सकते । धनञ्जय कहते हैं कि 'जो लोग आनन्दनिष्यन्दि काव्य के संयोजन के एक रूप में इतिहासादिगत पुरुषार्थचतुष्टय को मानते थे उनकी मूर्खता के विषय में क्या कहा जाए ।'

'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' को काव्य का प्रधान प्रयोजन नहीं माना जा सकता है । क्योंकि यह तो साधन है न कि साध्य । कीर्ति इसके द्वारा किसी अन्य वस्तु की ही प्रधानता सिद्ध होती है । फलतः यह स्वयं अपने में प्रधान नहीं हो सकता है । अब 'करोति कीर्तिं प्रीतिं च' के रूप में दो ही प्रयोजन अवशिष्ट रह जाते हैं । इन दोनों में प्रधानता को लेकर आचार्यों में मतभेद है । दण्डी, वामन, एवं वाग्भट इत्यादि विद्वानों का वर्ग काव्य के प्रधान प्रयोजन के रूप में कीर्ति (यश) को मानता है । दण्डी और वाग्भट तो काव्य का केवल एक ही प्रयोजन प्रतिपादित करते है कीर्ति । वामन ने पहले तो दो प्रयोजन (1) प्रीति (2) कीर्ति, बतलाए किन्तु आगे चलकर कीर्ति स्वर्गफलामाहु' कहकर कीर्ति की ही प्रधानता स्थापित कर दी है । उनके मत में 'प्रीति (आनन्द) तो तात्कालिक होता है जबकि यश एक स्थायी प्रयोजन है जिससे कि अन्ततः स्वर्ग की प्राप्ति होती है । काव्यालोचकों का दूसरा वर्ग 'प्रीति' (आनन्द) को प्रधान प्रयोजन मानता है । वैसे तो काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से भरत भामह इत्यादि इसको काव्य के अन्यतम प्रयोजन के रूप में मानते रहे हैं किन्तु उनका 'प्रीति' का स्वरूप स्पष्ट नहीं है । सम्भवतः वे इसे 'साधारण आनन्द' मात्र के रूप में स्वीकार करते रहे हैं । प्राचीन आलङ्कारिकों को मान्य यह 'प्रीति' ही आगे चलकर 'लोकोत्तर आनन्द' का रूप धारण करती है । आचार्य आनन्दवर्द्धन ध्वनिका प्रतिपादन ही 'सहृदयमनः प्रीतये' करते हैं । अभिनवगुप्त का कहना है कि काव्य के सम्पूर्ण प्रयोजनों में प्रीति की ही प्रधानता है । कवि की कीर्ति (यश) उसकी प्रीति (आनन्द) को ही बढ़ाती है-- 'कवेस्तावत् कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या' । पाठकों को यद्यपि काव्य से व्युपत्ति एवं प्रीति दोनों प्राप्त होते हैं तथापि उनमें प्रधानता प्रीति की है-- "तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्" । यदि काव्य के प्रयोजनों में प्रीति की प्रधानता न मानी जाए तो इसका प्रभुसम्मित वेदादि एवं सुहृदसम्मित इतिहास आदि से कोई भेद न हो पायेगा । चतुवर्गव्युत्पत्ति का भी आत्यन्तिक मुख्य फल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'आनन्द' देना ही है-- 'चतुवर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्' है यह 'आनन्द' ही काव्य का परम प्रयोजन है-- 'प्राधान्येन आनन्द एवोक्तः इस संदर्भ में धनञ्जय का यह आक्रोश कि 'आनन्द का निस्यन्द करने वाले रूपकों के विषय में जो लोग अल्पबुद्धि के कारण चतुवर्गव्युत्पत्ति को प्रयोजन मानते हैं, उनके लिए क्या कहा जाए' -- उचित ही है । मम्मट स्पष्ट कहते है कि रसास्वादन के पश्चात् विगलितवेद्यान्तर जो लोकोत्तर आनन्द है वही सभी प्रयोजनों का मौलिभूत है-- 'सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन समुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम् ।' हेमचन्द्र मम्मट के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं कि विगलित वेद्यान्तर ब्रह्मास्वाद सदृश जो यह आनन्द है वही काव्य का परम प्रयोजन है 'इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतम्' इस प्रकार यह स्थापित हो जाता है कि काव्य का सर्वोत्तम मुख्य प्रयोजन लोकोत्तर आनन्द है अन्य सब प्रयोजन इसकी दृष्टि से गौण है तथा इसी में अन्ततः पर्यवसित हो जाते हैं । काव्यचर्वणा का आनन्द इतना अद्वितीय, अनुपम एवं लोकोत्तर होता है कि इसके समक्ष आहार भी नहीं अच्छा लगता है-- 'कादम्बरी रसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते' बुद्धिमान व्यक्ति अपना समय काव्यशास्त्र के विनोद से व्यतीत करते हैं क्योंकि काल को व्यतीत करने का यही सर्वोत्तम ढंग है ।

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' ।

इसी सन्दर्भ में काव्य के निष्प्रयोजनवादी मत पर विचार कर लेना आवश्यक है । कतिपय अत्यन्त व्यवहारिकतावादी विचारक काव्य को अनुपयोगी बतलाकर काव्य के पठन-पाठन का निषेध करते हैं । उनका कहना है कि यह मनुष्य की कोमल भावनाओं को जाग्रत करके भावप्रवण बनाता है तथा उसके कर्मठता तथा दृढ़ता इत्यादि गुणों को नष्ट करता है । इस विषय में वे ऋग्वेद की ऋचा उदघृत करते है जिसका तात्पर्य है कि काव्य का श्रवण करना व्यर्थ है क्योंकि इससे सुकृतमार्ग का ज्ञान नहीं होता है ।[1] इस विषय में लोकोक्तियाँ भी है काव्य से शास्त्र नष्ट होता है [2] । अतएव 'काव्य चर्चाएँ बन्द कर देनी चाहिए [3] इत्यादि । यह काव्य का निष्प्रयोजनवादी मत है ।

उपर्युक्त विचारधारा तर्कसंगत नहीं है । काव्य के प्रयोजनों का विस्तार से विवेचन एवं प्रतिपादन किया जा चुका है । हाँ यह बात अवश्य है कि काव्य शास्त्रों के समान शुष्क व्यवहारिक नहीं है । वे व्यवहारोपयोगी उपदेश करते हैं तो मनोरम शैली में कान्तासम्मित कोमल कान्त पदावली के माध्यम से । और इसमें कोई अनौचित्य नहीं है कि सत्यं शिवं के साथ सुन्दरं का भी समन्वय हो जाए प्रत्युत यह तो एक वांछनीय वैशिष्ट्य ही कहा जायेगा । इसके अतिरिक्त 'सद्यः परनिर्वृत्तये' (लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति) एक ऐसा प्रोजन है जिसकी पूर्ति शास्त्र से नहीं हो सकती है । इस प्रकार यह सिद्ध है कि काव्य की मनुष्य-जीवन में महती उपयोगिता है ।

---

1. यदीं श्रणोत्यलकं श्रणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थानम् । --ऋग्वेद 10.12.6.
   'यद्यप्यसौ काव्यनाटकं श्रुणोति तथापि
   निरर्थकमेव तच्छ्रवणं तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावात्' --ऋग् भाष्य
2. काव्येन हन्यते शास्त्रम् ।
3. काव्यालापांश्च वर्जयेत्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्थ अध्याय

काव्य-गुण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्थ अध्याय

काव्य-गुण

जिस प्रकार कोई व्यक्ति गुणों के माध्यम से विश्व में ख्याति अर्जित करता है उसी प्रकारकाव्य भी अपने गुणों से ही चिरन्तन एवं विश्व व्यापी होकर युग-युगान्तर तक अपनी अमिट छाप मानव-हृदय पटल पर अङ्कित कर जाता है । गुण का कोशगत अर्थ-उत्तमता, विशिष्टता दोषाभाव, आकर्षक अथवा शोभाकरक धर्म आदि है किन्तु काव्यशास्त्र में गुण को दोषाभाव तथा काव्यश्री की अभिवृद्धि करने वाले धर्म के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है ।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों में गुण के स्वरूप, उसकी स्थिति तथा संख्या आदि के विषय में पर्याप्त मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है । कतिपय आचार्यों ने गुण को रीति के अश्रित माना है तथा कुछ अन्यों ने रीति को गुण के आश्रित । यहाँ पर कालक्रमानुसार आचार्यों का मत संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

भरत-- सर्वप्रथम आचार्य भरत ने गुणों को अभावात्मक अर्थात् 'दोष-विपर्यय' माना है तथा श्लेष, प्रसाद आदि दस गुणों को काव्य-गुण प्रतिपादित करते हुए उन्हें स्वसम्मत अगूढ़, अर्थान्तर आदि दस दोषों से विपर्यस्त स्वीकार किया है--

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः ।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु दर्शिताः ।।[1]

उक्त कारिका में प्रयुक्त 'विपर्यय' शब्द से आचार्यों ने तीन अर्थ ग्रहण किए हैं--1 अभाव, 2अन्यथा भाव तथा3 वैपरीत्य । भरतमुनि ने दोष के अभाव को गुण रूप में मान्यता प्रदान की है । ध्वनिकाल के उत्तरवती आचार्यों ने भी भरत की उक्त स्थापना को इस उक्ति के रूप में स्वीकार किया है-- " महान् निर्दोषता गुणः" ।

भरत कृत उक्त कारिका 'एत एव विपर्यस्ता गुणाः' में 'गुणाः' शब्द को श्लेषादि व्यष्टिगत गुणों का वाचक न मानकर यदि सामान्य गुण शब्द का वाचक माना जाये तो भरत सम्मत धारणा से यह सिद्ध होता है कि दोष काव्यशोभा के विघातक हैं तो गुण उसके विपर्यस्त रूप में स्थित होने के कारण काव्यशोभा के विधायक । भरत की यह धारणा उनके भूषण नामक लक्षण (काव्यबन्ध) तथा समता संज्ञक गुण की परिभाषाओं से भी पुष्ट हो जाती है । भूषण में अलङ्कार तथा गुणों को अनेक प्रकार से समलङ्कृत भूषण के समान विचित्रार्थोत्पादक तथा समता में इनको एक-दूसरे का भूषण प्रतिपादित किया गया है--

---

1. नाट्यशास्त्र - 16/25

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम् ।
भूषणैरिवचित्रार्थैस्तद् भूषणमिति स्मृतम् ॥[1](क)
अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः ।
अलङ्काराः गुणाश्चैव समाः स्युः समतां मताः ॥[1](ख)

आचार्य भरत के विचार से लक्षण तथा अलङ्कार की भांति गुण की भी सार्थकता यही है कि वह वाचिक अभिनय को प्रभावपूर्ण बनाता है । नाटक में प्रयुक्त वाचिक अभिनय ही काव्य की भाषा अथवा शैली है । इस प्रकार काव्य के प्रसङ्ग में गुण का कार्य काव्य शैली को समृद्ध करना और प्रभावशाली बनाना है । भरत गुणों की संख्या दस मानते हैं--

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।[2]

इस प्रकार भरत ने मुख्य रूप से नाटक का तथा परोक्ष रूप काव्य का मूल तत्त्व रस माना है तथा गुण और अलङ्कार दोनों का रस संश्रयात्मक प्रयोग निर्दिष्ट करके इनके समान महत्त्व की ओर भी संङ्केत किया है ।

भामह-- आचार्य भामह ने तीन गुणों का उल्लेख तो किया है, किन्तु उन्होंने गुण के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भी सामान्य विवेचन नहीं किया है ।

दण्डी-- आचार्य दण्डी का गुण विषयक विवेचन उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है । इन्होंने वैदर्भ तथा गौड संज्ञक द्विविध काव्य मार्गों का प्रतिपादन करते हुए गुणों की इनके प्राणभूत रूप में स्थापना की । दण्डी ने श्लेष प्रसाद आदि दस गुणों का उल्लेख करके यह स्थापित किया कि श्लेष आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं और गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है--

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्ये सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥[3]

वामन-- वामन प्रतिपादित गुण के स्वरूप तथा लक्षण विषयक विचार अत्यन्त पुष्ट और

---

1. (क) नाट्यशास्त्र 16/135, 1 (ख). वही 16/101.
2. वही 16/96.
3. काव्यादर्श 1/4 1-42.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सारगर्भित हैं । उनके अनुसार काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण कहलाते हैं । वे गुण ओज प्रसादादि हैं यमक उपमादि नहीं, क्योंकि ये एकाकी काव्य शोभा की उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं। जबकि ओज तथा प्रसादादि काव्य सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अकेले ही पर्याप्त है ।

"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।"[1]

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजः प्रसादादयः । न यमकोपमादयः, कैवल्येन तेषामकाव्यशोभा — करत्वात् । ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्य — शोभाकरत्वमिति ।[2]

वामन के मत में गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, जिनके बिना कांव्य शोभा की अभिवृद्धि दुष्कर है--

पूर्वे नित्याः । पूर्वे गुणाः नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।[3]

इस प्रकार वामन ने काव्य में गुणों का नित्य तथा अलङ्कारों को अनित्य मानते हुए परम्परा प्राप्त दश गुणों का उल्लेख किया है–

"ओजः प्रसाद श्लेष समता समाधि माधुर्य सौकुमार्योदारतार्थ व्यक्तिकान्तयो बन्ध गुणाः ।[4]

वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र 3/1/5 की वृत्ति में गुणों का पूर्णरुपेण स्पष्टीकरण देते हुए उनके व्यापक महत्त्व को निरूपित किया है । उनके मत में विशिष्ट गुणों से गुम्फित (गुणाश्रित) रीति ही काव्य की आत्मपद स्थानीय है–

"रीतिरात्मा काव्यस्य विशेषो गुणात्मा ।[5]"

आनन्दवर्धन-- ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने गुणों को रसाश्रित धर्म स्वीकार करके उसके स्वरूप को नव्य दिशा प्रदान करके गुणविषयक विचारधारा को बिकसित किया है । गुण तथा अलङ्कार के भेद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने ध्वन्यालोक में गुणों की रसोन्मुखता प्रतिपादित की है--

"तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥[6]"

अर्थात् जो धर्म उस प्रधानभूत अङ्गी (रस) के आश्रित रहने वाले (माधुर्यादि) हैं उन्हें गुण तथा कटकादि की भांति अङ्गों के आश्रित रहने वाले धर्म अलङ्कार कहलाते हैं । तात्पर्य यह है कि जो धर्म रसादिभूत अङ्गी का अवलम्ब ग्रहण करते हैं वे गुण कहलाते हैं और जो वाच्य तथा वाचक रूप अर्थ

---

1. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति 3/1/1
2. वही 3/1/1 की वृत्ति
3. वही 3/1/3 वृत्ति सहित
4. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 3/1/4.
5. वही 1/2/6, 8.
6. ध्वन्यालोक 2/6.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा शब्द के आश्रित रहते हैं, वे कटकादि के सदृश अलङ्कार कहे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ तक आते-आते गुण शरीरभूत शब्दार्थ के धर्म न रहकर आत्मभूत रस के धर्म माने गये।

कुन्तक-- आचार्य कुन्तक ने सर्वप्रथम प्रादेशिकता के आधार पर विभक्त वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली का निषेध कर स्वभावगत धर्म के आधार पर सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम अथवा उभयात्मक इन त्रिविध मार्गों का प्रतिपादन करते हुए इनमें समान रूप से रहने वाले दो सामान्य गुणों का उल्लेख किया है--

एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥[1]

उनके अनुसार वे दो गुण हैं-औचित्य तथा सौभाग्य। औचित्य गुण को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है--

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥[2]

अर्थात् जिस स्पष्ट वर्णन प्रकार के द्वारा स्वभाव के महत्त्व का पोषण होता है, वही औचित्य संज्ञक गुण है और इसका मूल 'उचित अख्यान' अर्थात् 'यथानुरूप कथन' को सर्वव्यापक काव्यतत्त्व स्वीकार करते हैं।

सौभाग्य गुण से उनका तात्पर्य कल्पना-विलास अथवा काव्य-समृद्धि से है। सौभाग्य गुण के अन्तर्गत कल्पना का प्राचुर्य, वक्रता, गुण अलङ्कार आदि समस्त काव्य सम्पदा का विलास मान्य है। इनके अतिरिक्त कुन्तक ने कतिपय विशिष्ट गुणों माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य काभी महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।

क्षेमेन्द्र-- आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य में औचित्य का सर्वाधिक प्राधान्य निरूपित करते हुए औचित्य के अट्ठाइस भेदों में गुणौचित्य विवेचन में प्रकारान्तर से गुण विषयक चर्चा की है--

प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः ।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं सम्भोगावसरोदितः ॥[3]

अर्थात् प्रकरणादि (प्रस्तुत) अर्थ के औचित्य से ओज प्रसादादि गुण काव्य में कमनीय सौभाग्यवत्ता को प्राप्त होकर सम्भोग श्रृंगार की दशा में उदित चन्द्रमा की भांति सहृदयों को आनन्द के जनक होते हैं।

---

1. वक्रोक्ति जीवित 1/57.
2. वही 1/53.
3. औचित्य विचार चर्चा 14.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मम्मट-- आचार्य मम्मट ने वामनाचार्य के गुण विवेचन से गुणों की अपरिहार्यता का तथा आनन्दवर्धन से गुणों की रसधर्मता का ग्रहण करते हुए इन दोनों के समन्वय के द्वारा गुणों का स्वरूपनिर्धारण किया है--

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।[1]

अर्थात् आत्मा के शौर्यादि धर्मों के सदृश (काव्य के आत्मभूत) प्रधान रस के जो उत्कर्षाधायक तथा स्थिर धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं ।

उनका मत है कि जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के ही धर्म होते हैं, शरीर के नहीं । उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं, वर्णों के नहीं--

'आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् ।'[2]

"अचल स्थितयोः गुणाः" कहकर मम्मट ने काव्य में गुणों की अपरिहार्यता का भी प्रतिपादन कर दिया है ।

वाग्भट-- गुणों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वाग्भट सर्वथा दोषमुक्त होने पर भी किसी काव्य की श्रेष्ठता के लिए उसमें दस गुणों औदार्य, समता, कान्ति, अर्थव्यक्ति, प्रसन्नता, समाधि, श्लेष, ओज, माधुर्य तथा सुकुमारता का होना आवश्यक मानते हैं--

अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना ।
तानि इदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान् ।
औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।
समाधिः श्लेष ओजोथ माधुर्यं सुकुमारता ।।[3]

विश्वनाथ-- आचार्य विश्वनाथ ने गुणों को रसोत्कर्ष का हेतु मानकर आत्मा के शौर्यादि धर्मों के सदृश काव्य के स्थायी धर्मों को गुण नामाभिहित किया है--

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ।[4]

आचार्य ने साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में गुणों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि-गुण,

---

1. काव्य प्रकाश 8/66.
2. वही 8/66 की वृत्ति
3. वाग्भटालङ्कार 3/1-2.
4. साहित्य दर्पण 8/1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलङ्कार और रीतियाँ काव्योत्कर्ष का कारण हैं । काव्य में माधुर्यादि गुण उपमा आदि अलङ्कार तथा वैदर्भी आदि रीतियां शब्द और अर्थ रूप शरीर के द्वारा आत्म स्थानीय रस के उत्कर्षाधायक होते हैं।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ-- पण्डितराज ने गुणों के विषय में सर्वथा मौलिक दृष्टि का प्रतिपादन करके गुणों को चित्तवृत्तियों के साथ सम्बद्ध किया है । उनके मत में माधुर्य गुण चित्त में द्रुति का, ओज दीप्ति का तथा प्रसाद विकास का प्रयोजक है । तत्तद् गुणविशिष्ट रस चर्वणा ही इनकी जनक है।

"गुणानां चैषां द्रुति-दीप्ति-विकासाख्यस्तिस्रश्चित्तवृत्तयः
क्रमेण प्रयोज्याः, तत्तद्गुणविशिष्टरसचर्वणाजन्य इति यावत्"।[2]

तात्पर्य यह है कि द्रुति, दीप्ति तथा विकास संज्ञक तीन चित्रवृत्तियां उक्त दोनों गुणों से उत्पन्न नहीं होती हैं, अपितु इन गुणों से विशिष्ट रसों के आस्वादन से उत्पन्न होती हैं ।

मम्मट भट्ट आदि का मत उद्धृत करते हुए पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं कि 'रचना मधुर है' 'बन्ध ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहार किसी पुरुष के लिए 'इसका आकार शूर का है' इस कथन के सदृश लाक्षणिक है--

"एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु, व्यवसितेषु
'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः' इत्यादयो व्यवहाराः
'आकारोऽस्यशूरः इत्यादि व्यवहारवदौपचारिकाः
इति मम्मटभट्टादयः।'[3]

अभिप्राय यह है कि शौर्य आत्मा में रहने वाला धर्म है वह अवयवों के विशेष आकार में नहीं रह सकता तथापि 'इसका आकार शूर है' इस व्यवहार को उपपन्न करने हेतु जिस प्रकार लक्षणा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार रस धर्मी गुणों का रचना अथवा बन्ध के सन्दर्भ में प्रयोग भी लाक्षणिक होता है ।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुणों के संख्यागत निर्धारण में पर्याप्त वैविध्य दृष्टिगत होता है । अतः प्रसङ्गवश इस की चर्चा भी अपेक्षित है--

---

1. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ।।
गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतियोऽवयवसंस्थानविशेषवत् देहद्वारेणैव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते । इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वम् तथापि गुण शब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थयोरुपचर्यते । यतश्च गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दा रस्योत्कर्षकाः ।
वही 1/3 की वृत्ति

1. रसगङ्गाधर प्रथम आनन
2. वही प्रथम आनन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुणों की संख्या तथा उनका स्वरूप-- सर्वप्रथम आचार्य भरत ने गुणों की संख्या दश बतलाई है- श्लेष प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति ।[1]

अग्निपुराण में गुण तीन वर्गों में विभक्त किये गये हैं--(1) शब्द गुण (2) अर्थ गुण तथा उभयगुण यहाँ सात शब्द गुण[2], छः अर्थगुण[3] तथा छः उभय गुण[4] मिलाकर कुल उन्नीस गुणों का प्रतिपादन किया गया है ।

भामह ने तीन गुणों के अस्तित्त्व को स्वीकार किया है-- माधुर्य , ओज तथा प्रसाद ।[5]

आचार्य दण्डी ने भरत सम्मत दश गुणों का ही उल्लेख किया है ।[6]

आचार्य वामन ने यद्यपि इन दश गुणों का ग्रहण किया है 'तथापि उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द गुण तथा अर्थगुण दो भेद स्वीकार किए हैं । इस प्रकार बिना नाम परिवर्तन किये ही वामन की गुण संख्या बीस हो गयी है-- दश शब्द गुण[7] तथा दश अर्थगुण[8] ।

---

1. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।।
---ना०शा० 16/96

2. श्लेषोलालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता ।
सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तथा ।।
--अग्नि पुराण 46/6.

3. माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता ।
प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट्चकासति ।।
--वही 146/12

4. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यमुदारता ।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चाः प्रपञ्चिताः ।।
--वही 146/18, 19.

5. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ।।
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालकाः ।।
श्रव्यंनातिसमस्तार्थं काव्यंमधुरमिष्यते ।
आविददङ्गनावालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ।। --काव्यालङ्कार 2/1-3.

6. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदात्वमोजःकान्तिसमाधयः ।। --काव्यादर्श 1/42

7. गाढबन्धत्वमोजः । शैथिल्यं प्रसादः । मसृणत्वं श्लेषः । मार्गाभेदः समता । आरोहावरोहक्रमः समाधिः । पृथक्पदत्वं माधुर्यम् । अजरठत्वं सौकुमार्यम् । विकटत्वमुदारता । अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः । औज्ज्वल्यं कान्तिः । काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 3//1/5-6, 11-13, 21-25.

8. अर्थस्यप्रौढिरोजः । अर्थवैमल्यं प्रसादः । घटना श्लेषः । अवैषम्यं समता । अर्थदृष्टिः समाधिः । उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् । अपारुष्यं सौकुमार्यम् । अग्राम्यत्वमुदारता । वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः । दीप्तिरसत्वं कान्तिः ।
--वही 3/2/2-15.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आनन्दवर्धनाचार्य ने द्रुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व नामक चित्तवृत्तियों के आधार पर क्रमशः तीन गुण-माधुर्य, ओज तथा प्रसाद स्वीकार किए हैं ।[1]

आचार्य कुन्तक ने औचित्य तथा सौभाग्य संज्ञक दो सामान्य गुण[2] और माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, तथा आभिजात्य नामक विशिष्ट गुण माने हैं ।[2]

आचार्य भोज ने गुणों की संख्या में अतिशय वृद्धि करके उन्हें तीन प्रकार के प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है-- (1) वाह्य, (2) आभ्यन्तर तथा (3) वैशेषिक ।

इनमें वाह्य शब्द गुण तथा आभ्यन्तर-अर्थगुण है । वैशेषिक गुण भावात्मक न होकर सामान्य रूप से तो दोष है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में गुण बन जाते हैं । भोज ने उक्त प्रत्येक वर्ग में चौबीस गुण माने हैं इस प्रकार उनके अनुसार गुणों का कुलयोग 72 हो जाता है । भोज ने भरत, दण्डी तथा वामन के दस गुणों को लक्षण भेद के साथ यथावत् स्वीकार कर लिया है और साथ ही उन्होंने चौदह नवीन गुणों की उद्भावना की है ।[3]

आचार्य मम्मट ने वामन सम्मत दश गुणों को माधुर्य, ओज तथा प्रसाद में अन्तर्भुक्त करते हुए उनकी संख्या सीमित कर दी ।[4] किन्तु इनके परवर्ती वाग्भट को भरत तथा दण्डी द्वारा निर्देशित दश गुण ही मान्य रहे हैं ।[5] आचार्य विश्वनाथ[6] तथा पंडितराज जगन्नाथ[7] ने गुणत्रय-माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को मान्यता प्रदान की ।

इस प्रकार गुण निरूपक आचार्यों के मुख्यतः तीन वर्ग हो जाते हैं-- (1) भरत मत के समर्थक दश गुणों को मानने वाले आचार्य (2) भामह के आधार पर तीन गुणों को मानने वाले आचार्य तथा3 विविध विचारधारा वाले आचार्य ।

---

1. ध्वन्यालोक 2/8, 9, 10.
2. (क). वक्रोक्ति जीवित 1/53, 55. (ख). 1/44, 45, 47, 48.
3. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
   अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता ।।
   ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता ।
   तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः ।।
   संक्षेपः सम्मितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा ।
   रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढि : ----------इत्यादि ।।
   --सरस्वती कण्ठा भरण 1/63-65.
4. माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।
   --काव्य प्रकाश, 8/68.
5. औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।
   समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ।।
   --वाग्भटालङ्कार, 3/2
6. गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ।
   --साहित्यदर्पण, 8/1
7. माधुर्यौजप्रसादाख्यांस्त्रीनू गुणानाहुः ।
   --रसगङ्गाधर, प्रथम आनन ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम वर्ग के आचार्यों में भरत, दण्डी, वामन तथा वाग्भट मुख्य है ।

द्वितीय वर्ग में भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आते हैं । इन्होंने भामह का अनुकरण करते हुए तीन गुणों को मान्यता दी और अन्य गुणों को इन्हीं में समाहित कर लिया ।

तृतीय वर्ग के आचार्यों ने गुणों की संख्या के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत किए । इसमें मुख्यतः अग्निपुराणकार, कुन्तक तथा भोज उल्लेखनीय है ।

अस्तु, काव्य के दश गुणों का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है--

1. **माधुर्य--** सर्वप्रथम आचार्य भरत ने माधुर्य गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो वाक्य अनेक बार सुना गया हो अथवा पुनः पुनः कथित होने पर भी उद्विग्न न करे वह माधुर्य गुण कहलाता है ।[1]

आचार्य भामह ने यद्यपि माधुर्यादि गुणों का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया है तथापि उन्होंने श्रव्य काव्य के विवेचन प्रसङ्ग में माधुर्य गुण का प्राधान्य स्वीकार किया है ।[2] दण्डी ने काव्यादर्श में माधुर्य गुण को सर्वथा रसयुक्त कहा है । इसके द्वारा बुद्धिमान लोग उसी प्रकार हर्षित होते है जिस प्रकार पुष्परस से भ्रमर आनन्दित होते है--

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥[3]

आचार्य वामन ने माधुर्य को 'पृथक् पदत्वं माधुर्यम्' तथा 'उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्' कहकर परिभाषित किया है ।

आनन्दवर्धन ने रसों में श्रृङ्गार रस को ही सर्वाधिक आनन्द प्रदायक तथा मधुर माना है । उनका मत है कि माधुर्य श्रृङ्गारमय काव्य का आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित होता है । वह चित्त के अधिक आर्द्रभाव होने के कारण विप्रलम्भ श्रृङ्गार तथा करुण में क्रमशः अधिक प्रकर्षता को प्राप्त होता है--

श्रृंङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥
श्रृङ्गारे विप्रलम्भाख्यो करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥[4]

---

1. बहुशोयच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः । नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमितिस्मृतम्।।
-- ना०शा०, 16/104
2. काव्यालङ्कार 2/1-3.
3. काव्यादर्श 1/51.
4. ध्वन्यालोक 2/7-8.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आचार्य कुन्तक सुकुमार मार्ग में असमस्त पदता तथा मनोहारी पद विन्यास को माधुर्य गुण का अभिधान देते हैं । विचित्र मार्ग के पदों की मधुरता के कारण विदग्धता से ओत-प्रोत होकर शैथिल्य के परित्याग से सुन्दर काव्य रचना बन जाती है–

असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम् ।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ।।
वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्रवध्यते ।
याति यत् व्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ।।[1]

आचार्य मम्मट के अनुसार चित्त का द्रुति स्वरूप आह्लाद (जिसमें अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाये वह आनन्द विशेष) माधुर्य गुण कहलाता है । यह गुण क्रमशः संयोगश्रृंगार, विप्रलम्भ श्रृंगार करुण तथा शान्तरसो में अतिशय को प्राप्त होता है ।

आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।।[2]

मम्मट के मत में वर्ण, समास तथा रचना गुणों के अभिव्यञ्जक होते हैं ।[3] माधुर्य व्यञ्जक वर्णादि का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं कि ट वर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्णों का अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहना कि पञ्चम वर्ण पहले आये और स्पर्श वर्ण पीछे । रकार, लकार ह्रस्व स्वर से युक्त हों, समास का सर्वथा अभाव, अथवा अल्प समास संयुक्त मधुर रचना माधुर्य गुण की व्यञ्यक है ।[4]

वाग्भटालङ्कार में माधुर्य गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वाग्भट ने लिखा है कि जो गुण अर्थ तथा पदों से सरसता का संचार करे उसे मांधुर्य गुण की संज्ञा से अभिहित किया जाता है--

सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।[5]

आचार्य विश्वनाथ ने माधुर्य गुण का स्वरूप तथा उसके व्यञ्जक वर्णादि निरुपण में मम्मट की पदसरणि कर अनुसरण किया है ।[6]

इस प्रकार दण्डी आदि आलङ्कारिक, रीतिवादी आचार्य वामन और वक्रोक्तिवादी कुन्तक माधुर्य गुण का सम्बन्ध कल्पनापूर्ण उक्ति वैचित्र्य से स्थापित करते हैं । जबकि रसवादी आचार्यों ने माधुर्य

---

1. वक्रोक्तिजीवित 1/30, 44.
2. काव्यप्रकाश 8/68-69.
3. वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः । वही, 8/73
4. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू । अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।। वही, 8/74
5. वाग्भटालङ्कार, 3/14
6. चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते । सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्ते ऽधिकं क्रमात् ।।
मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्तास्टटडढान्विना । रणौलघूच तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ।।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।। --साहित्य दर्पण 8/-4

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुण को अधिक महत्व प्रदान करते हुए श्रृङ्गार, करुण, शान्त आदि कोमल रसों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित किया है ।

2. **ओज गुण--** सर्वप्रथम आचार्य भरत ने ओज गुण का स्वरूप निर्धारित किया है । उनके मत में जो बन्ध निन्दित होते हुए भी उदात्तत्व का अवभासक हो तथा जहाँ शब्द और अर्थ की सम्पत्ति हो वह ओज नामक गुण कहलाता है--

अवगीतोपि हीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोजः परिकीर्तितम् ॥[1]

वामनाचार्य ने 'गाठबन्धत्वमोजः' तथा 'अर्थस्य प्रौढिरोजः' लिखकर गुण के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि काव्य में विद्यमान रौद्रादि रस दीप्ति से लक्षित होते हैं और ओज उस दीप्ति के अभिव्यञ्जक शब्द तथा अर्थ के आश्रित रहता है--

रौद्रादयो रसादीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥[2]

वाग्भट ने दीर्घसमास युक्त वाक्यो में ओज गुण का स्वरूप विद्यमान माना है तथा गद्य में इस का विशेष सौन्दर्य होता है--

ओजः समासभूयस्त्वं तद्गद्येष्वतिसुन्दरम् ।[3]

आचार्य मम्मट ने ओज का विशद विवेचन करते हुए चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण को ओज कहा है । यह क्रमशः वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों में उत्तरोत्तर उत्कर्षयुक्त होता जाता है--

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।[4]

मम्मट के अनुसार ओज गुण के व्यञ्जक वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उनके परवर्ती द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों का, ऊपर नीचे अथवा दोनों ओर विद्यमान रेफ के साथ किसी वर्ण का दो तुल्य वर्णों का योग, ण को छोड़कर ट वर्ग का प्रयोग, शकार तथा षकार का प्रयोग, दीर्घ समास, विकट पद रचना है ।[5] आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुसरण किया है ।[6].

---

1. ना० शा० 16/106.
2. ध्वन्यालोक 2/9.
3. वाग्भटालङ्कार 3/11.
4. काव्य प्रकाश 8/69-70.
5. योगः आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोरेणतुल्ययोः । टादिः शषीवृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।।
--का०प्र० 8/75
6. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते । वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।।
--सा०द० 8/4,5.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसाद-- प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता, स्वच्छता, प्राञ्जलता तथा सुस्पष्टता । सर्वप्रथम आचार्य भरत ने पढ़ने मात्र से बोध्य तथा विद्वानों द्वारा अव्याख्यात होने पर भी शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने की क्षमता से समन्वित कृति को प्रसाद गुण सम्पन्न कहा है--

अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थोवा प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसम्बोधात् प्रसादः परिकीर्त्यते ॥[1]

आचार्य वामन ने 'शैथिल्यं प्रसादः' तथा 'अर्थवैमल्यं प्रसादः' कहकर प्रसाद गुण को लक्षित किया है ।

ध्वनिकार ने ध्वन्यलोक में प्रसाद गुण को सभी रसों का साधारण तथा सामान्य गुण कहकर उसे समस्त रसों तथा रचनाओं से सम्बद्ध किया है--

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥[2]

आचार्य कुन्तक ने प्रसाद गुण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सुकुमार मार्ग से वह रचना प्रसाद गुण समन्वित कहलाती है, जिसमें बिना आयास के ही सद्यः अर्थ प्रतीति हो जाये तथा जो रस और वक्रोक्ति का विषय कही जाये । परन्तु विचित्र मार्ग में असमस्त पदों अथवा किञ्चित् समस्त पदों के विन्यास का नाम प्रसाद है । इस मार्ग में प्रसाद गुण वहाँ भी माना गया है जहाँ एक शब्द का तात्पर्य दूसरे शब्द से तथा एक वाक्य का सम्बन्ध दूसरे वाक्य से स्पष्ट हो जाये ।[3]

आचार्य मम्मट ने प्रसाद गुण के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है--शुष्क ईंधन में प्रज्वलित अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाये वह सभी रसों मे तथा सामान्य रूप में रहने वाला प्रसाद गुण कहलाता है--

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्रविहितस्थितिः ॥
श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणोमतः ॥[4]

---

1. नाट्यशास्त्र 16/99.
2. ध्वन्यालोक 2/10.
3. अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
   रसवक्रोक्तिविषयं यत्प्रसादः सकथ्यते ।।
   असमस्त पदभ्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि ।
   किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ।।
   गमकानि निबध्यन्ते वाक्येवाक्यान्तराण्यपि ।
   पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः ।। --वक्रोक्ति जीवित 1/31, 45-46.
4. काव्य प्रकाश 8/70-71, 76.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के ही मत का समर्थन किया है ।[1]

4. **श्लेष--** आचार्य भरत ने श्लेष का लक्षण इस प्रकार किया है--

ईप्सितेनार्थजातेन संबद्धानां परस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेषइत्यभिधीयते ।।[2]

अभिप्राय यह है कि इष्ट अर्थों से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता श्लेष है ।

आचार्य वामन ने 'मसृणत्वं श्लेषः' तथा 'घटना श्लेषः' कहकर श्लेष को परिभाषित किया है। वाग्भट ने जहाँ पद परस्पर गुम्फित हुए के सदृश हो वहाँ श्लेष नामक गुणमाना है ।[3]

5. **समता--** आचार्य भरत के अनुसार जहाँ अलंकार और गुण समभाव से विद्यमान होकर परस्पर एक दूसरे के सदृश और शोभावर्धक हों वहाँ समता नामक गुण मानना चाहिए--

अन्योन्यसदृशं यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणा ।
अलंकाराः गुणाश्चैव समःस्युः समतां मताः ।।

--ना०शा० 16/101.

आचार्य दण्डी ने किसी शब्द समूह के उच्चारण से उसमें अनुप्रास जन्य समता को ही समता गुण का स्वरूप माना है--

यया कयाचिच्छुत्या यत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ।।

--काव्यादर्श 1/5

वामन ने इसे "अवैषम्यं समता कहकर सूत्रबद्ध किया है । इसी को व्याख्यायित करते हुए वाग्भट ने लिखा है कि बन्ध में जहाँ अवैषम्य अर्थात् विषमता का अभाव होता है वहीं समता नामक गुण होता है ।

बंधस्य पदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः ।।

--वाग्भटा --3/5

6. **समाधि--** आचार्य भरत ने समाधि को इस प्रकार व्याख्यायित किया है--

उपमास्विह दृष्टानाम् अर्थानां यत्नतस्तथा ।
प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ।।

--ना०शा० 16/103.

---

1. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
   स प्रसादः समस्तेषु रसेसु रचनासु च ।।
   शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः । -- साहित्यदर्पण, 8/78.
2. नाट्यशास्त्र 16/97.
3. श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् । --वाग्भटालंकार 3/11.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात्, जहाँ उपमा से व्यञ्जित तथा प्राप्त अर्थों का यत्नपूर्वक अति संयोग किया जाय वहा समाधि गुण होता है । दण्डी के मत में लोक सीमा के पालन में तत्पर कवि द्वारा जब अप्रस्तुत वस्तु के धर्म प्रस्तुत वस्तु पर आरोपित किए जाते हैं, तब उसको समाधि गुण कहते हैं ।

उनके मत में समाधि गुण ही काव्य का सर्वस्व है ।[1]

(क) अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा।

(ख) तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेकमनुगच्छति ॥

वाग्भट ने 'जहां अन्य वस्तु का गुण अन्य में नियुक्त किया जाय उसे समाधि गुण कहा है--

स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते. ॥

--वाग्भटा० 3/10.

7. **सौकुमार्य--** यथानाम तथा गुण युक्त सौकुमार्य की परिभाषा निरूपण में आचार्य एकमत हैं। आचार्य भरत ने उसे

सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।
सुकुमारार्थ संयुक्त सौकुमार्यं तदुच्यते । (ना०शा० 16/107)

कहकर सम्बोधित किया है । अर्थात् सुश्लिष्ट सन्धि वाले, सुख प्रयोज्य शब्दों तथा सुकुमार अर्थों से युक्त पद रचना सौकुमार्य गुण युक्त कहलाती है । आचार्य वामन भी उसे 'अपारुष्यं सौकुमार्यम्' कहकर अपरुष पदविन्यास यु रचना को सौकुमार्य गुण सम्पन्न कहते हैं । आचार्य वाग्भट उसे रूपापित करते हुए कहते हैं कि जहाँ अक्षर कठोर न हो वहां सौकुमार्य गुण होता है--

अनिष्ठुराक्षरत्वं यत्सौकुमार्यमिदं यथा ॥

--वाग्भटा० 3/14.

8. **उदारता--** सौष्ठव से मिले हुए सुष्ठु प्रकार से कथित अनेक अर्थ विशेषों से युक्त गुण को आचार्य भरत ने उदात्त (उदार) गुण कहा है ।

अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तद्य कीर्त्यते ॥ -- ना०शा० 16/111.

'अग्राम्यत्वमुदारता'- कहकर आचार्य वामन ने भी भरत सम्मत परिभाषा का ही समर्थन किया है ।

आचार्य वाग्भट-- अर्थ चारुत्व के बोधक पदान्त से सम्मिलित पदों का जहाँ आख्यान हो उसे औदार्य गुण कहा गया है ।

---

1. (क) काव्यादर्श 1.93.
(ख) काव्यादर्श 1.100

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदांतरैः ।
मिलितानां यदाधानं तदौदार्यस्मृतं यथा ॥

--वाग्भटा० 3/4.

इस प्रकार भरत ने इसे उदात्त, वामन ने उदारता तथा वाग्भट ने औदार्य कहकर इसके स्वरूप का निर्धारण किया है ।

9. **अर्थव्यक्ति--** आचार्य भरत ने जिसके प्रयोग के अनन्तर प्रायः चित्त में अर्थ प्रविष्ट हो जाय उसे अर्थव्यक्ति गुण कहा है ।

यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते ।
अनंतरं प्रयोगस्तु साऽर्थव्यक्तिरुदाहृता ॥

--ना० शा० 16/109.

वामन ने 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः' कहकर वस्तु स्वभाव को स्फुरित करने की क्षमता से सम्पन्न गुण को अर्थव्यक्ति कहा है । वाग्भटालंकार में आचार्य वाग्भट ने 'जहाँ अर्थ को प्रमाण की आवश्यकता न पड़े तथा सुख बोध्यता हो' उसे अर्थव्यक्ति गुण कहा है--

यदमेयत्वयर्थस्य सार्थव्यक्ति स्मृता ॥

--वाग्भटा० 3/8.

10. **कान्ति--** कान्ति नामक गुण की व्याख्या करते हुए आचार्य भरत उसे सर्वथा चित्त और श्रवण सुखद कहते हैं--

यो मनश्श्रोत्रविषयः प्रसाद जनको भवेत् ।
शब्दबन्धः प्रयोगेण स कांन्त इति भण्यते ॥

--ना०शा० 16/113.

आचार्य वामन 'दीप्तरसत्वं कान्ति' लिखकर उसे सूत्रबद्ध करते हैं । तथा वाग्भट उसे श्लोकादि में अर्थ तथा पदों की उज्ज्वलता से सम्पन्न कहते हैं--

यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता ॥

--वाग्भटा० 3/5.

उपर्युक्त विवेचित गुणों के स्वरूप से स्पष्टतः विदित होता है कि इनमें से अनेक गुण ऐसी शब्द अथवा वर्णयोजना से सम्बन्धित हैं जिनसे पदावली में नाद-सौन्दर्य अथवा संगीतात्मकता या श्रोतृसुखदता उत्पन्न होती है । कतिपय गुण ऐसे भी हैं जो अर्थ गौरव, अर्थ चमत्कृति, अर्थ सौकर्य अथवा दीप्तरसत्व से सम्बन्धित हैं ।

संभवतः वामन ने इसी आधार पर शब्दगत गुण तथा अर्थगत गुण संज्ञा से इसको विभक्त किया था । आचार्य वामन ने शब्द गुणों की अपेक्षा अर्थगत गुणों को अधिक महत्व प्रदान किया क्योंकि वैदर्भी रीति में अर्थ गुणों की सम्पदा से ही आस्वाद्यता तथा श्रेष्ठता विद्यमान रहती है । इसके अतिरिक्त गुणों के अन्तर्गत रस, उक्ति वैचित्र्य, गाढबन्धता का भी विचार होता रहा है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुन्तक ने मुख्यतः तीन मार्गों का वर्णन किया है--

(1) सुकुमार मार्ग (2) विचित्र मार्ग (3) मध्यम मार्ग ।

इन मार्गों के गुणों का वर्णन करते हुए उन्होंने औचित्य तथा सौभाग्य का सामान्य गुण के आधार पर उल्लेख किया है अर्थात् कुन्तक ने इन मार्गों के दो गुण माने हैं-- सामान्य और विशेष जिसमें सामान्य के पुनः दो वर्ग किए गए--

(1) औचित्य तथा (2) सौभाग्य ।

सुकुमार मार्ग के विशेष गुणों में उन्होंने माधुर्य प्रसाद, लावण्य आभिजात्य को स्थान दिया है । इन सबसे सर्वधा चमत्कृत वक्रोक्ति को काव्य का महान गुण प्रतिपादित करते हुए सादृश्यलक्षणा वक्रोक्ति को काव्य का जीवातु प्राणाधायक तत्त्व घोषित किया है ।

इस प्रकार उपरि-विवेचित गुणों के भेद-प्रभेदों का प्रस्तार आचार्यों की मौलिक उद्भावना रही है । आचार्य भोज ने गुणों की संख्या में वृद्धि करके काव्यशास्त्र की परम्परा में पृथक् दृष्टि को रखा, फिर भी परवर्ती आचार्यों ने भामह-आनन्दवर्धन तथा मम्मट का अनुसरण करके तीन गुणों की सत्ता स्वीकार की है तथा अधिकाधिक भरत, दण्डी तथा वामन के दस गुणों को मान्यता दी है ।

गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में वामन तथा आनन्दवर्धन के मध्य विवाद दृष्टिगत होता है । वामन के अनुसार गुण शब्द तथा अर्थ के धर्म होने के कारण रीति के उपस्कारक हैं, जबकि आनन्दवर्धन गुण को रस का धर्म मानते हुए चित्तवृत्ति रूप में व्याख्यायित करते हैं ।

ध्वनिवादियों को माधुर्य, ओज तथा प्रसाद तीन गुण ही मान्य है । उनका तर्क हैं--रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की त्रिविध अवस्थाएँ होती हैं-- द्रुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व । उक्त त्रिविध चित्त वृत्तियों के तद्रूप होने के कारण गुण भी केवल तीन होते हैं-- द्रुति का प्रतीक, माधुर्य दीप्ति का ओज, तथा व्यापकत्व का प्रसाद ।

अतः गुणत्रय से अधिक गुणों की कल्पना निराधार तथा निरर्थक है ।

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अन्ततः दश गुणों की अपेक्षा माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण ही विशिष्ट स्थायी क्षमता के कारण परवर्तीकाल में सर्वमान्य हुए ।

गुण तथा रीति--

रीति तथा गुण एक नहीं है । रीति विशिष्ट पद रचना है और गुण उसको अनुप्राणित करने वाले तत्त्व अतः दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है ।

गुण शौर्यादिवत् आत्मा के धर्म है जबकि काव्य में रीति अवयव संस्थान विशेषवत् है ।

गुण तथा अलङ्कार--

काव्य में गुणों तथा अलङ्कारों को लेकर मुख्यतः दो विचारधाराएं प्रचलित हुई--(1) अभेदवादी तथा (2) भेदवादी ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(1) **अभेदवादी विचारधारा--** इस विचारधारा के समर्थक आचार्य भट्टोद्भट हैं । इनकी दृष्टि से लौकिक जगत् में गुणों तथा अलङ्कारों में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है । शौर्यादि गुणों की स्थिति आत्मा में समवाय सम्बन्ध से होती है और कटक कुण्डल हारादि की स्थिति शरीर में संयोग सम्बन्ध से होती है । अतः लौकिक जगत् में भेद स्पष्ट है, जबकि काव्यगत माधुर्य ओजादि गुण तथा अनुप्रास, उपमादि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं । इसलिए काव्य जगत् में भेद नहीं है । काव्य के क्षेत्र में जो विचारक इन दोनों में भेद करते हैं वह वास्तविक न होकर अन्धानुकरण मात्र है--

"समवायवृत्त्या शौर्यादयः (आत्मना सह) संयोग वृत्या तु हारादयः (शरीरेण सह) इत्यस्तु गुणालङ्काराणां (लौकिक) भेदः, किन्तु ओजः प्रभृतीनामू अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या (काव्ये) स्थिरिते गडुलिका प्रवाहेणैवेषां भेदः ।।"

2. **भेदवादी विचारधारा--** इसके समर्थक वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि अधिकांश आचार्य हैं । गुण तथा अलङ्कारों में पार्थक्य करने का सर्वप्रथम प्रयास आचार्य वामन ने किया है । वह स्पष्टतः कहते हैं कि काव्य में अतिशय के हेतु अलङ्कार हैं । काव्य में गुणों की स्थिति नित्य है--

"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः । ये खलु शब्दार्थयोः
धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः । पूर्वे नित्याः ।"[1]

यहाँ पर आचार्य वामन द्वारा प्रतिपादित पार्थक्य का आधार गुणों की नित्यता तथा अलङ्कारों की अनित्यता है ।

इसी विचारधारा को और अधिक विकसित करके अग्रसारित करने वाले इस वर्ग के द्वितीय आचार्य आनन्दवर्धन हैं । उनके अनुसार काव्यात्मभूत अङ्गी आत्मा के जो धर्म हैं वे गुण तथा अङ्ग स्वरूप काव्य शरीर के धर्म अलङ्कार कहलाते हैं--

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ।।[2]

ध्वनिकार ने यहाँ पर शरीरी तथा शरीर के आधार पर गुण तथा अलङ्कार में भेद प्रतिपादित किया है ।

भेदवादी विचारधारा के तृतीय आचार्य मम्मट हैं, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों वामन तथा आनन्दवर्धन के मतों का सम्मिश्रण करते हुए प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि धर्म होते हैं उसी प्रकार काव्य के अङ्गी रस के उत्कर्षाधायक और स्थिर धर्म गुण होते हैं तथा काव्य

---

1. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 3/2/1,2,3.
2. ध्वन्यालोक 2/6.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में विद्यमान उस अङ्गी रस को जो तत्त्व काव्याङ्ग के द्वारा उत्कर्षयुक्त करते हैं वे अनुप्रास और उपमा आदि हारादि आभूषणों के समान काव्य के अलङ्कार होते हैं--

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं ये ऽङ्गद्वारेण जातु चित् ।
हारादिवदलङ्कारास्ते ऽनुप्रासोपमादयः ॥"[1]

आत्मा के साथ गुणों का नित्य सम्बन्ध बतलाते हुए मम्मटाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार शौर्यादि धर्म आत्मा के ही होते हैं, शरीर के नहीं उसी प्रकार माधुर्यादि गुण रस के ही धर्म होते हैं वर्णों के नहीं--

"आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य,
तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् ॥"[2]

मम्मट द्वारा प्रतिपादित यह विचारधारा परवर्तीकाल में सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में प्रचलित हुई ।

इस प्रकार उक्त विवेचन के अनुसार निष्कर्ष रूप में गुण तथा अलङ्कार विषयक निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट होते हैं--

(1) गुण आत्मभूत रस के धर्म है और अलङ्कार अङ्गभूत शब्दार्थ के ।

(2) स्वभावतः गुण काव्य के आन्तरिक तत्त्व हैं तथा अलङ्कार बाह्य ।

(3) रसानुभूति की प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है । तथा अलङ्कारों का अप्रत्यक्ष । व वाच्य तथा वाचक का उपस्कार करते हुए व्यंग्य रस के परिपाक में योग देते हैं ।

(4) गुण काव्य के नित्य धर्म हैं तथा अलङ्कार अनित्य ।

---

1. काव्य प्रकाश 8/66, 67
2. वही 8/66 की वृत्ति ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चम अध्याय

काव्य-दोष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पञ्चम अध्याय

काव्य-दोष

काव्य में दोषों की स्थिति को लेकर काव्यशास्त्रियों के दो वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं-- (1) कट्टर पन्थी (2) उदार विचार वाले । प्रथम वर्ग के अनुयायियों के अनुसार काव्य में दोष की स्थिति को सहन नहीं किया जा सकता है[1] । भामह के विचार में काव्य में एक पद को भी दुष्ट नहीं होना चाहिये । कविता न करने से अधर्म, व्याधि अथवा दण्ड की प्राप्ति नहीं होती किन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृत्यु के समान है ।[2] दण्डी की दृष्टि में उचित विधि से प्रयुक्त वाणी कामधेनुगाय के सदृश सभी मनोरथों को पूर्ण करती है किन्तु यदि उसका दूषित प्रयोग किया जाय तो वही वाणी प्रयोक्ता की मूर्खता प्रकट करती है । इसलिए काव्य में अल्प दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । वामन ने तो 'गुणविपर्यय' को दोष की संज्ञा देकर यह स्पष्ट कर दिया कि [3] काव्य में दोष की स्थिति सह्य नहीं है। उनकी दृष्टि में गुणविवेचन से ही (गुणविपर्यय रूप) दोषों का ज्ञान हो जाता है । फलतः इनका पृथक् विवेचन आवश्यक नहीं था फिर भी 'सौकर्य' की दृष्टि से इनका पृथक् प्रतिपादन कर दिया गया है ।[4] रूद्रट ने 'असारनिरास' (दोषत्याग) का प्रथम् प्रतिपादन करकेयह प्रकट कर दिया कि गुणग्रहण के तुलना में दोषत्याग अधिक महत्वपूर्ण है ।[5] रुद्रट को मध्यम कोटि का काव्य भी तब ही मान्य है जबकि

---

(1) सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ।।
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ।।
काव्यालंकार - 1/11-12

(2) गौर्गोः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्त स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्त पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ।।
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।।
काव्यादर्श - 1/6-7

(3) गुणविपर्ययात्मानो दोषाः ।। 1।। प्रथमोऽध्यायः, द्वितीयमधिकरणम् काव्यलंकारसूत्रवृत्ति
अर्थतस्तदवगमः ।। 2।। तदेव ।
गुणस्वरूपनिरुपणात्तेषां दोषाणामर्थादवगमोऽर्थात्सिद्धिः ।
किमर्थं ते पृथक् प्रपञ्च्यन्त इत्याह--
सौकर्याय प्रपञ्चः ।।3।।
३।। --काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-- प्रथमोऽध्याय--द्वितीयमधिकरणम्

(4) 'तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे' । --काव्यालंकार 1/14
तत्राप्यसारस्य प्रागुपन्यासस्तन्निरासस्य
प्राधान्यख्यापनार्थः । --काव्यालंकार नमिसाधुविरचितटीकायाम्

(5) यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम् ।। --काव्यालंकार -6/40

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह दोषरहित हो । मम्मट ने काव्य लक्षण में सर्वप्रथम 'तददोषौ' कहकर यही अभिप्राय प्रकट किया है कि काव्य में अन्य उपादानों की अपेक्षा दोषत्याग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ।[1] वाग्भट ने निर्दुष्ट काव्य को स्वर्गप्राप्ति का साधन तथा दोष को विष के समान कहा है ।[2] केशवमिश्र भी इसी पक्ष में है कि काव्य में दोषों को सर्वथा त्याग होना चाहिये । काव्य में निर्दोषता का होना ही सबसे महान् गुण है ।

इन उपर्युक्त कट्टरपन्थियों से भिन्न काव्यशास्त्रियों का एक दूसरा वर्ग है जो कि काव्य में दोष की स्थिति के विषय में कुछ उदार विचार रखता है । इनके अनुसार काव्य का सर्वथा दोष[3] रहित होना यदि असंभव नहीं तो विरल अवश्य है । जब रघुवंश, किरात तथा शिशुपाल वध में अनेक दोष हैं तो फिर अन्य महाकाव्यों के विषय में क्या कहा जाए । काव्य में गुण और दोष दोनों ही पाये जाते हैं ।[4] अतः इस द्वितीय वर्ग के अनुसार कवि की यह चेष्टा अवश्य होनी चाहिये कि काव्य में कम से कम दोष रहें । यदि इसके उपरान्त भी काव्य में कुछ दोष आ जाते हैं तो एतावान्मात्र से उसका काव्यत्व नष्ट नहीं माना जा सकता । भरत, क्षेमेन्द्र तथा विश्वनाथ इत्यादि इसी दूसरे वर्ग में आते हैं ।[5] भरत के अनुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा गुणहीन अथवा दोषहीन नहीं हो सकता काव्य में दोनों की इस सर्वथा अपरिहार्यता को देखकर[6] क्षेमेन्द्र ने तो काव्य की एक नई कोटि 'सगुणदोष'-- (अर्थात् जिसमें गुण और दोष दोनों हो) ही स्वीकार कर ली । साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ का तो यहाँ तक कथन है कि सर्वथा[7] दोषरहित काव्य असम्भव है । अतएव काव्य में दोष की स्थिति के विषय में उदार दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है । यह अवश्य है कि दोष अपकर्षाधायक होने के कारण हेय हैं-- त्याज्य हैं लेकिन यह कहना कि सर्वथा दोषरहित कृति ही काव्य है युक्तियुक्त नहीं ।

---

(1) अदुष्टमेव तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपानपंक्तये ।
परिहार्यानतो दोषाँस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ।। वाग्भटालंकार-- 2/5
इति दोष निषेकैरकलंकितमुज्ज्वलं सदा विबुधैः ।
कविहृदयसागरोत्थितममृतमिवास्वाद्यते काव्यम् ।। वाग्भटालंकार-- 2/29

(2) दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः ।
अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान्निर्दोषता गुणः ।।
अलंकारशेखर- द्वितीयरत्न -२

(3) सन्ति दोषाः शतं माघे रघुवंशकिरातयोः ।
नैषधे च महाकाव्ये नवीनेषु तु का कथा ।।

(4) "काव्यं गुणदोषाणामाकरः कथ्यते बुधैः ।। --आभाणक

(5) न किञ्चित् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किंचित् ।
तस्मान्नाट्यकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः ।. -- ना० शा० 17/47

(6) 'सगुणं निर्गुणं सदोषं निर्दोषंसगुणदोषं च काव्यम्'
-- कविकण्ठाभरण चतुर्थसन्धिः प्रथम श्लोक की वृत्ति

(7) किञ्च एवं काव्यप्रविरलविषयं वा निर्विषयंवास्यात् ।
सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात् ।।
--सा० दर्पण प्रथम परिच्छेद ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोष स्वरूप को लेकर विभिन्न विद्वानों में मतभेद है । भरत ने यद्यपि दोषों के स्वरूप का साक्षात् विश्लेषण नहीं किया है फिर भी उनके अन्य उल्लेखों से उनके मत में दोषों के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है । उनका कथन है कि दोष ही विपर्यस्त होकर काव्य में गुण बन सकते हैं [1] वामन का मत भरत के विपरीत है । उनके विचार से गुणविपर्यय ही दोष है । [2] 'गुणविपर्यय' दोष अथवा 'दोष विपर्यय' गुण -- ये दोनों ही कथन वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट नहीं करते । विद्वानों के अनुसार 'विपर्यय' के दो अर्थ हो सकते हैं-- (1)अभाव (2) विपरीत। लौकिक जगत् में तो गुणाभाव तथा गुणवैपरीत्य (विरुद्धत्व) दोनों ही दशाओं के उदाहरण देखने को मिलते हैं । प्रश्न है काव्य के क्षेत्र में इसका कौन सा अर्थ लिया जाए । यहाँ 'विपर्यय' से तात्पर्य 'विपरीत' (विरुद्धत्व) ही लेना उचित है । यदि गुण एवं दोष एक दूसरे के अभावरूप होते तो[3] वामन मम्मट इत्यादि प्रमुख आचार्य काव्यलक्षण में 'अदोष' तथा 'गुण' दोनों पदों का प्रयोग एक साथ न करते । केवल एक का ही प्रयोग पर्याप्त होता । फलतः 'विपर्यय' से तात्पर्य 'वैपरीत्य' का ही लेना उचित है न कि 'अभाव' का । दण्डी ने इसी अर्थ की पुष्टि की है । वे कहते हैं कि दोष अपकर्षाधायक है तथा गुण काव्य के उत्कर्षाधायक । अतः दोषों की गुणों से स्वतन्त्र सत्ता मानना आवश्यक है । महिम भट्ट दोष का स्वरूप 'अनौचित्य' बतलाते है [4] 'अनौचित्य' को दोष मानने पर इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। यह अनौचित्य रस के प्रति भी हो सकता है तथा उससे अतिरिक्त अन्य पदार्थों के प्रति भी । रसके अनौचित्य को अन्तरङ्ग तथा अन्य प्रति अनौचित्य को बहिरङ्ग की संज्ञा दी है । क्षेमेन्द्र की दृष्टि में तो काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में औचित्य का होना आवश्यक है । उसके अभाव में काव्यशोभाधायक अलंकार तथा गुण इत्यादि का भी कोई प्रयोजन नहीं रहता [5] इस प्रकार जितना व्यापक क्षेत्र औचित्य का है उतना ही विस्तृत अनौचित्य का भी सिद्ध होता है ।

---

(1) एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ।। -- ना० शा० 16/95

(2) गुणविपर्ययात्मानो दोषाः -- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-- वामन 2/1.1.,

(3) वामन-- 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । सौन्दर्यमलंकारः ।
'स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् । --- काव्यालङ्कारसूत्राणि -1/1/1-3
भोज-- 'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कैररलङ्कृतम् --- सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2,
जयदेव-- 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता' --- चन्द्रालोक-- 1/7
मम्मट-- 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ'--- --- का० प्र० 1/4
हेमचन्द्र-- अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ--- --- काव्यानुशासन-- प्रथम अध्याय

(4) इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषयं शब्दविषयं चेति ।।
तत्रविभावानुभावव्यभिचारिणाम् यथायथं रसेषु यो
नियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते ।
--अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति ।
--व्यक्तिविवेक द्वितीय विमर्श

(5) काव्यस्याऽलमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ।।
--औचित्य विचार चर्चा-- 4

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्वनिवादियों ने दोष के स्वरूप का विवेचन ध्वनि (रस) की दृष्टि से किया । उनके विचार से जो वस्तु रस की अपकर्षक है वह दोष है । आननदवर्द्धन का कथन है कि श्रुतिदृष्ट इत्यादि के दोष बतलाए गए हैं वे ध्वानिरूप रस की दृष्टि से ही हेय है ।[1] उनके अनुसार इन रस विरोधी (दोषों) का परिहार अत्यन्त आवश्यक है[2] मम्मट ने तो स्पष्ट कहा कि मुख्यार्थ (रस) का हनन करने वाले दोष कहलाते हैं--[3] मुख्यार्थ हतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः ।' हेमचन्द्र ने मम्मट की पदसरणि का अनुकरण करते हुए कहा कि रस के अपकर्षाधायक हेतु दोष कहलाते है[4] आचार्य विश्वनाथ[5] एवं केशवमिश्र[6] भी दोष का विश्लेषण रसापकर्षक के रूप में ही करते हैं । इस प्रकार दोष के स्वरूप पर विचार करने पर हम देखते हैं कि प्रारम्भिक काल का इसका वैपरीत्यात्मक लक्षण ध्वनि एवं ध्वन्युत्तरवर्ती काल में ध्वनि (रस) के अपकर्ष एवं अनपकर्ष पर ही आश्रित हो गया ।[7] अर्थात् मुख्य रूप से रस के अपकर्षाधायक तत्व ही दोष हैं तथा इस रस के पोषक जो अन्य उपादान हैं उनके अनौचित्य उनकी रस पोषकता को ध्यान में रखकर --गौण रूप से दोष कहे जायेंगे । इस प्रकार रसगत दोष मुख्य हैं तथा रस प्रतिपादक होने के नाते अर्थ पद पदाश एवं वाक्यगत अनौचित्य को भी दोष रूप में स्वीकार किया जायेगा तथा ये गौण दोष होंगे । मम्मट एवं हेमचन्द्र दोनों का यही मत है । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मम्मट ने दोषवर्गीकरण को एक सूत्रता प्रदान करके व्यवस्थित करने का महान् कार्य किया । जयदेवका दोष विवेचन इस प्रकार है--

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता ।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥

द्वितीय मयूख 1 ---चन्द्रालोक

---

(1) श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ।।
ध्वन्यालोक-- 2/11

(2) प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीनू बन्द्धुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ।।
ध्वन्यालोक-- 3/17

(3) काव्यप्रकाश --- 7/49

(4) रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्तया शब्दार्थयोः।"
--प्रथम परिच्छेद
काव्यानुशासन

(5) दोषास्तस्यापकर्षकाः -- सहित्य दर्पण प्रथम परिच्छेद

(6) दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः ।'
--अलङ्कारशेखर --द्वितीय रत्न

(7) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।।
--का० प्र० सप्तमोल्लास
कारिका- 49

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोष नित्य एवं अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है-- जो स्थल विशेष में गुण बन जाए वह अनित्य दोष है जैसे कि ग्राम्य दोष हास्य रस में गुण बन जाता है । जो सर्वत्र सर्वदा दोष ही माना जाए वह नित्य दोष है जैसे कि 'च्युतसंस्कृति' इत्यादि ।

जो दोष शब्द के रहने पर रहे तथा उसके न रहने पर न रहे वह शब्दनिष्ठ दोष होता हैं ।

जो दोष शब्द के न रहने पर भी रहे उसे अर्थगतदोष कहते हैं ।

द्विविध (शब्दगत एवं अर्थगत) दोष पदवृत्ति, पदाँशवृत्ति वाक्यवृत्ति, वाक्याँशवृत्ति, प्रबन्धवृत्ति, अर्थवृत्ति, रसवृत्ति होने के कारण सप्तधा हो जाते है ।

दोषों की संख्या एवं वर्गीकरण को लेकर विज्ञानो में पर्याप्त पतभेद है । भरत ने दस दोष बतलाए हैं-- दशकाव्य दोषाः ।[1] भामह ने प्रथम[2] चतुर्थ[3] एवं पञ्चम[4] परिच्छेदों में विभिन्न अवसरों पर कुल मिलाकर पच्चीस दोष निर्दिष्ट किए हैं । इनमें से कुछ वक्राभिधान के अन्तर्गत, कुछ वाणी के दोषों के रूप में कुछ सामान्यदोषों के रूप मेंतथा कतिपय विस्तार के लोभ में सम्भावित दोषों के रूप में वर्णित किए गए हैं । दण्डी ने भामह सम्मत एकादश सामान्य दोषों मे से एक (प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तहीनता') को छोड़कर अवशिष्ट दश दोषों को स्वीकार किया है ।[5] उनकी दृष्टि में 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनता का दोष शुद्धशास्त्रीय है अतः काव्य में उसकी सम्भावना नहीं ।

वामन ने दोषों का चतुर्धा विभाजन किया है--

---

(1) गूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ।। -- ना० शा० 16/88

वक्रदोष

(2) नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थभवाचकमयुक्तिमत्
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते ।। 1/37 । -- काव्यालंकार

वाणीदोष

श्रुतिदृष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि । श्रुतिकटं तथैवाहुर्वाचां दोष चतुर्विधम् ।।
काव्यालंकार 1/47

सामान्यदोष

(3) अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् । शब्दहीन यतिभ्रष्ट भिन्नवृत्त विसन्धि च ।।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च । प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ।।
काव्यालंकार 4/1,2

विस्तारदोष

(4) विरुद्धपदमस्वर्थं बहुपूरणमाकुलम् ।
कुर्वन्ति काव्यमपरे व्यायताभीप्सया यथा ।।
काव्यालंकार 5/67

(5) अपार्थव्यर्थमेकार्थससंशयमपक्रमम् । शब्दहीन यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम् ।।
देशकालकलालोक न्यायागमविरोधि च । इति दोषा दशैवेते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ।।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त हानिर्दोषो न वेत्यसौ । विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढं किं फलम् ।।
--काव्यादर्श 3/125-27

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(1) पददोष [1] (2) पदार्थदोष [2] (3)वाक्यदोष [3] (4)वाक्यार्थदोष [4] इन सबके अन्तर्गत उन्होंने कुल मिलाकर बीस दोष माने हैं वामन ने सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से दोषों का वर्गीकरण करके प्रतिपादन किया है। इनसे पहले के आचार्यो (भरत, भामह, दण्डी,) द्वारा प्रतिपादित दोषों को वामन ने इन्हीं चार वर्गो में वैज्ञानिक विधि से अन्तर्भूत कर दिया है। रुद्रट ने पदवाक्यगत सामान्यदोष, [5] पददोष, [6] वाक्यदोष [7] एवं अर्थदोष [8] के शीर्षकों के अन्तर्गत सत्ताइस दोषों का वर्णन किया है।

आनन्द वर्द्धन ने सभी दोषों की 'रसविरोधिता' प्रतिपादित करते हुए [9] छः रसविरोधियों का वर्णन किया है। महिमभट्ट 'अनौचित्य' को दोष कहते है [1] तथा इसके दो भेद करते है (1) अन्तरङ्ग

---

(1) दुष्ट पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकंच ।। 2-1-4 काव्यालंकारसूत्र वृत्ति

(2) अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलाक्लिष्टानि च ।। 2-1-10 काव्यालंकारसूत्र वृत्ति

(3) भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसंधीनि वाक्यानि ।। काव्यालंकारसूत्र वृत्ति

(4) व्यर्थैकार्थसंदिग्धायुक्तप्रक्रमलोकविद्याविरुद्धानि च ।। --2-2-9 काव्यालंकारसूत्र वृत्ति

पदवाक्यस्थसाम्यदोष

(5) अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् । क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ।।
रुद्रट काव्यालंकार 2-8

पदवाक्यस्थो दोषो वाक्याविशेषप्रयोगनियमेन । यः परिहृतस्ततो ऽन्यदतिव्याप्तिश्च संह्रियते ।।

पददोष -- रुद्रट काव्यालंकार 6-1

(6) असमर्थमप्रतीतं विसंधि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम् । अव्युत्पत्ति च देश्यं पदमिति सम्यग्भवेद्दुष्टम् ।।
रुद्रट काव्यालंकार

इत्थं पददोषाणां दिङ्मात्रमुदाहृतं हि सर्वेषाम् । तस्मादनयेव दिशा ततो ऽन्यदप्यूह्यमभियुक्तैः ।।
रुद्रट काव्यालंकार 6-28

वाक्यदोष--

(7) वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थंच । यत्पुनरनलंकार निर्दोष चेति तन्मध्यम् ।।
रुद्रट काव्यालंकार 6-40

अर्थदोष-- 4

देशकालनियमान्यथात्वदोष (अर्थदोष) वही 6-40

(8) सर्वः स्वं स्वं रूप धत्तेऽर्थो देश कालनियमं च । तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिरसात्
रुद्रट काव्यारंकार 7-7

परिहृत एव प्रायो दोषो ऽर्थस्यान्यथोक्तिपरिहारात् अयमुच्यते ततो ऽन्यस्तत्कारणमन्यथोक्तौ च ।।
रुद्रट काव्यालंकार 11-2

अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसंबद्धः । ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टो ऽर्थः ।।
रुद्रट काव्यालंकार 11-2

(9) विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणन्चितस्यापि वस्तुनो ऽन्यस्य वर्णनम् ।।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ।।

ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत 18,19

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(2) बहिरङ्ग । अन्तरङ्ग में रसदोषों को मानकर उनका विस्तार से वर्णन नहीं किया । बहिरङ्ग दोष पाँच प्रकार के बतलाए हैं-- (1) विधेयामर्श (2) प्रक्रमभेद (3) क्रमभेद (4) पौनरुक्त्य (5) वाच्यावचन। भोज ने दोषों का त्रिधा वर्गीकरण-- (1) पददोष [2] (2) वाक्यदोष (3) वाक्यार्थदोष करके प्रत्येक के अन्तर्गत सोलह प्रकार के दोष माने । क्षमेन्द्र [3] ने भी अन्य दृष्टिकोण से तीन वर्ग निर्दिष्ट किए है-- (1) शब्द कालुष्य (2) अर्थका लुष्य (3) रस कालुष्य मम्मट[4] ने अपने पूर्वती आलंकारिकों के दोष विवेचन को सुसंबद्ध करके व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया । उन्होंने दोषों के चार वर्ग प्रतिपादित किए-- मम्मट ने काव्य प्रकाश के सूत्र संख्या 73 में 'पदस्यांशे ऽपिकेचन' कहकर पदांश में भी कतिपय दोषों को स्वीकार किया है । इस प्रकार उनके मत से पदांश दोष को मिलाकर दोषों के पाँच वर्ग हो जाते हैं । (1) पदगत (2) वाक्यगत (3) अर्थगत (4) रसगत (5) पदांशगत। उनकी दृष्टि से रसगत दोष मुख्य हैं तथा पद वाक्य एवं अर्थगत दोष गौण । क्योंकि सब रस के प्रति पर्यवसित हो जाते हैं [5] वाग्भट्ट ने दोषों के दो भेद माने हैं (1) पदगत (2) वाक्यगत । इन दोनों वर्गों के अन्तर्गत उन्होंने कुल मिलाकर सत्रह दोष प्रतिपादित किए हैं । हेमचन्द्र ने दोषों के पाँच वर्ग किए हैं (क) [6] रसदोष (आठ) (ख) [7] पददोष (दो) (ग) [8] वाक्यदोष (तेरह) (घ) [9] पदवाक्य-उभयदोष (आठ) (ङ)[10] अर्थदोष (बीस) । इस प्रकार हेमचन्द्र ने मम्मट की तुलना में 'पदवाक्य उभयगत एक अतिरिक्त वर्ग का निर्देश किया है । जयदेव [11] ने द्विविधदोष बतलाए-- (1) शब्दगत (2) अर्थगत। शब्दगत के पुनः दो भेद हो जाते हैं (i) पदगत (2) वाक्यगत । इस प्रकार जयदेव की दृष्टि

---

(1) इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्- तत्र विभावानुभावव्याभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते । व्यक्तिविवेक द्वितीय विमर्श

(2) दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश । हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादौ प्रचक्ष्महे ।।
सरस्वती काण्ठाभरण --1/3

(3) कविकण्ठाभरण चतुर्थ सन्धिः प्रथम श्लोक वृत्ति

(4) दोषदर्शननामसप्तम उल्लास-- काव्यप्रकाश

(5) पददोष-- अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम् । स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसम्मतम् ।।
ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तत्र प्रयुज्यते । वाग्भटालंकार-- द्वितीय परिच्छेद श्लोक 6,1
वाक्यदोष-- अपदस्थास्तु ये वाक्यदोषास्तान्ब्रूमहे ऽधुना ।
खण्डितं व्यस्तसम्बन्धमसम्मितमपक्रमम् । छन्दोरीतियतिभ्रष्टमदुष्टवाक्यमसत्क्रियम् ।।
काव्यानुशासन तृतीय अध्याय-- वाग्भटालंकार-- द्वितीयपरिच्छेद 16,17

(6) विभावानुभावक्लेशव्यक्तिः पुनः पुनर्दीप्यकाण्डप्रथाच्छेदाङ्गाति-विस्तराङ्ग्यननुसंधानान ङ्गाभिधानप्रकृतिव्यत्ययाश्च ।

(7) निरर्थकासाधुत्वे पदस्य ।

(8) विसंधिन्यूनाधिकोक्तास्थानस्थपदपतत्प्रकर्षसभाग्रपुनरात्ताविसर्गहतवृत्तसंकीर्णगर्भितभ ग्नप्रक्रमानन्वितत्वानि वाक्यस्य ।

(9) अप्रयुक्तश्लीलासमर्थानुचितार्थश्रुतिकटुल्क्लिष्टाविमृष्टविधेयांशविरुद्धबुद्धिकृत्त्वान्युभयोः ।

(10) कष्टापुष्टव्याहतग्राम्याश्लीलसाङ्गाक्षसंदिग्धाक्रमपुनरुक्तभिन्नसहचरविरुद्धव्यंग्यप्रसिद्धिविद्याविरु द्धत्यक्तपुनरात्तपरिवृत्तनियमानियमविशेषसामान्यविध्यनुवाददत्वान्यर्थस्य ।

(11) स्याद्येतो विशता येन सक्षता रमणीयता । शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ।।
चन्द्रलोक -- द्वितीयमयूख -1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मे तीन वर्ग हो जाते हैं (1) पदगत (2) वाक्यगत (3) अर्थगत उनके मत में बीस पदगत : अट्ठारह वाक्यगत एवं चौदह अर्थ के दोष होते हैं ।[1] विश्वनाथ की दृष्टि में दोष पांच प्रकार के हैं (1) पदगत (2) पदांशगत (3) वाक्यगत (4) अर्थगत (5) रसगत ।[2] केशवमिश्र ने काव्यदोषों के तीन वर्ग निर्दिष्ट किए हैं-- (1) पददोष (अष्ट) (2) वाक्यदोष (द्वादश) (3) अर्थदोष (अष्ट) आचार्य जगन्नाथ के मत में काव्य में केवल रसदोषों को ही स्थान मिलना चाहिए । इस प्रकार उनकी दृष्टि से काव्यदोषों की संख्या केवल आठ है ।

तात्विक दृष्टि से देखा जाए तो दोष तीन ही प्रकार के कहे जा सकते हैं (1) रसदोष (2) शब्ददोष (3) अर्थदोष । वस्तुतः रस के काव्य की आत्मा होने के कारण सभी दोष इसके ही प्रति होते हैं किन्तु इनमें से कुछ का रस से साक्षात् सम्बन्ध होता है तथा कुछ का परोक्ष । जिनका रस से सीधा सम्बन्ध होता है उनको रसदोष कहते हैं तथा वे 'मुख्य' कहलाते हैं । चूँकि शब्द और अर्थ-रस के प्रतिपादक हैं अतएव शब्द एवं अर्थ के दोष परोक्ष रूप से रस से सम्बन्ध रखते हैं इसलिए 'गौण' कहलाते हैं । जो दोष शब्द के रहने पर रहते हैं, नहीं रहने पर नहीं रहते-- उनको शब्ददोष कहते हैं । जो दोष शब्द के न रहने पर भी रहते हैं उनको अर्थदोष कहते हैं । ये द्विविध (शब्दगत एवं अर्थगत) दोष पदवृत्ति, पदाँशवृत्ति वाक्यवृत्ति, वाक्याँशवृत्ति, पदवाक्यवृत्ति एवं प्रबन्धवृत्ति होने से अनेक प्रकार संज्ञाओं से अभिहित किए जाते हैं ।

कतिपय आचार्यों ने अलंकारदोषों का भी प्रतिपादन किया । भामह, दण्डी, वामन एवं रुद्रट ने प्रमुख रूप से उपमा अलंकार के ही दोषों का विवेचन किया है । हाँ 'उपमादोषों' की संख्या को लेकर इनमें अवश्य मतभेद है । मम्मट एवं विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा, समासोक्ति इत्यादि अन्य अलंकारों के दोषों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है ।

'दोष-गुणता'-- दोष उद्वेगजनक हैं इसलिए हेय हैं[1] यदि इनकी उद्वेगजनकता दूर कर दी

---

(1) -----ते पुनः पञ्चधामताः ।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ।।
सा० द० सप्तमपरिच्छेद 1

पददोष--

(2) कष्टाप्रयुक्तसन्दिग्धव्यर्थाश्लीलाप्रतीतकाः ।
असाध्ववाचकी दोषाः पदेऽष्टावेव भाषिताः ।।
वाक्यदोष-- न्यूनं विसन्धि व्याकीर्णं समाप्तपुनरात्तकम् ।
भग्नक्रमयतिच्छन्दो वाक्यगर्भमरीतिमत् ।।
अविमृष्टविधेयाँशं समुदायार्थवर्जितम् ।
विरुद्धमतिकृद्वाक्ये दोषा द्वादशकीर्तिता ।।
अर्थदोष-- अष्टार्थदोषा विरसग्राम्यव्याहताखिन्नताः ।
हीनाधिकाऽसदृक्साम्यं देशादीनां विरोधि च ।।
--अलङ्कारशेखर द्वितीयरत्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाए तो दोष दोष नहीं रहते ।[2] उदारवादी दृष्टिकोण के अनुसार दोषों से पूर्णतया छुटकारा नहीं मिल सकता फलतः इनकी हेयता को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये । भामह का कहना है कि उचित सन्निवेश से दुष्ट कथन भी शोभित होता है जैसे कि माला के मध्य में ग्रथित नील पत्र, कान्ता के नेत्रों में न्यस्त काला अञ्जन-- उसके सौन्दर्य की ही वृद्धि करता है[3] । दण्डी वामन इत्यादि ने कुछ परिस्थितियों में दोष के दोषत्वाभाव पर प्रकाश डाला है । आनन्दवर्द्धन [4] ने दोषों की नित्यता एवं अनित्यता का प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार अनित्य दोष वे हैं जो कि एक स्थान पर तो दोष होते हैं किन्तु दूसरे स्थान में गुण बन जाते हैं । क्षेमेन्द्र ने काव्य में दोषों की अपरिहार्यता की दृष्टि से काव्य का एक प्रकार ही मान लिया है-- 'सगुणदोषं काव्यम्' । मम्मट [5] के अनुसार वक्त्र आदि के औचित्य के कारण कहीं दोष गुण बन जाते हैं जयदेव [6] ने दोषाङ्कुश का वर्णन किया है जिसके द्वारा दोषों का निवारणकिया जा सकता है । [7] दोषाङकुश के तीन भेद होते हैं-- (1) दोष को गुण बना देना दोष को निर्दोष कर देना (3) दोष का अत्याज्य हो जाना । आचार्य विश्वनाथ केमत में औचित्य के अनुसार अन्य दोषों के अदोषत्व, गुणत्व और अदोषगुणत्व का निर्णय करना चाहिए ।[8]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विभिन्न काव्यशास्त्रियों द्वारा कृत दोष विवेचन का उद्देश्य यही है कि उनका अधिकाधिक यथासम्भव परिहार कर कवि अपने काव्य में शब्द अर्थ आदि विषयक चारुत्व को निर्दोष रूप में प्रस्तुत कर सके, जिससे स्वच्छ दर्पण में निष्कलङ्क प्रतिबिम्ब की भाँति काव्य के प्रत्येक अवयवभूत सौन्दर्य का आस्वाद प्राप्त किया जा सके ।

---

(1) उद्वेगजनकोदोषः -- अग्निपुराण

(2) दोषा नात्यर्थतो ग्राह्या--- ना० शा०

(3) सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपिशोभते ।
नीलं पलाशमावद्धमन्तराले स्रजामिव ।।
किञ्चिदा श्रयन्दर्याद् धत्ते शोभासमाध्यपि ।
कान्ता विलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ।। --काव्यालंकार 1/54,55
अनयान्यदपि ज्ञेयं दिशा युक्तमसाध्यपि ।। --काव्यालंकार 1/57

(4) श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।।
ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदाहृता ।। --ध्वन्यालोक 1/11

(5) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् । --का० प्र० सप्तम उल्लास 59

(6) दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विश्रृङ्खलम् ।
निवारयति यस्त्रेधा दोषाङ्कुशमुशन्तितम् ।। --चन्द्रालोक-- द्वितीय मयूख 40

(7) दोषे गुणत्वं तनुते दोषं वा निरस्यति ।
भवन्तमथ वा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ।।
मुखं चन्द्राश्रयं धत्ते श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः ।
अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम् ।। --चन्द्रालोक-- द्वितीयमयूख 41,42,

(8) अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ।। --साहित्य दर्पण 7/32

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

षष्ठ अध्याय

काव्य में अलङ्कार योजना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

षष्ठ अध्याय

काव्य में अलङ्कार-योजना

मानव सभ्यता की प्राचीनतम कृति ऋग्वेद में प्रचुरमात्रा में अलङ्कार प्रयोग, भरत के द्वारा नाट्यशास्त्र में कतिपय अलङ्कारों की गणना, प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अलङ्कार शब्द का प्रयोग यथा-भामह कृत काव्यालङ्कार रुद्रटकृत काव्यालङ्कार, वामनकृत काव्यालङ्कार सूत्र, वाग्भटकृत काव्यालङ्कार तथा काव्य के प्राचीनतम सम्प्रदाय के रूप में अलङ्कार सम्प्रदाय का अविर्भाव तथा प्राचीन काल सेही काव्यशास्त्र की अपर संज्ञा केरूप मेंअलङ्कार शास्त्र का प्रयोग-यह सब तथ्य प्राक्तनकाल से संस्कृत साहित्य में अलङ्कारों की महत्ता को निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं। इस सन्दर्भ में रुय्यक का यह कथन बहुत सारगर्भित है--

"तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्"।[1]

इस निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व उन्होंने भामह, रुद्रट, वामन तथा उद्भट के मतों का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया कि ये आचार्य प्रतीयमान अर्थ को अलङ्कारों का उपस्कारक मानते हैं। इस सम्पूर्ण विवेचन का अभिप्राय यह प्रदर्शित करना है कि अलङ्कार विवेचन की दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्रियों के तीन वर्ग हो जाते हैं--

1. अलङ्कारों को काव्य में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने वाले अलङ्कारवादी आचार्य-- भामह, दण्डी, रुद्रट, उद्भट, वामन।

2. काव्य के शोभाधायक तत्त्व के रूप में अलङ्कारों की अपरिहायर्यता का प्रतिपादन करने वाले आचार्य भोज, हेमचन्द्र, जयदेव, वाग्भट।

3. काव्य में अलङ्कारों की परिहार्यता को मानने वाले आचार्य- आनन्दवर्धन, मम्मट।

आर्य सभ्यता के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अर्थालङ्कारों की सुन्दर योजना दृष्टिगत होती हैं जिनमें मुख्यतः उपमा[2] अतिशयोक्ति[3] विरोधाभास[4] व्यतिरेक[5] तथा श्लेष[6] का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है।

---

1. अलङ्कार सर्वस्व-- भूमिका भाग।
2. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुरिव सनये धनानाम्।
   जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।। --ऋग्वेद - 1/124/7.
3. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। -- वही - 10/164/20
4. उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
   उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।। -- वही - 10/71/4
5. द्वादशारं न हितत्रराय वर्तति चक्रं परि द्यामृतस्य। -- वही - 1/164/11
6. पितेवपुत्रं अभिमरुपस्थे त्वामग्ने वधर्यश्वः सपर्यन्। -- वही - 10/69/10

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृत में अलङ्कारों की स्वीकृति का सर्वप्रथम सङ्केत भरतकृत नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। इन्होंने मुख्यतः चार अलंङ्कारों का प्रतिपादन किया है-- (1) उपमा, (2) रूपक, (3) दीपक और (4)यमक।[1] भरत के अनुसार काव्य रचनाओं में जो भी सादृश्य से उपमित किया जाये और जो गुण तथा आकृति पर आश्रित हो, वह उपमा है।[2] एक की एक से उपमा करनी चाहिए अथवा एक की अनेक से या अनेक की अनेक से उपमा की जा सकती है।[3] यह उपमा पांच प्रकार की होती है-- (1) प्रशंसा (2) निन्दा (3) कल्पिता (4) सदृशी (5) किञ्चित् सदृशी।[4]

भिन्न विषयों वाले शब्दों का दीपक की भाँति एक वाक्य द्वारा संयोग होने पर दीपक अलङ्कार होता है।[5] नाना द्रव्यों के सम्बन्ध से जो गुण श्रय औपम्प होता है तथा जिसमें रूप का सम्यक् वर्णन होता है, उसका नाम रूपक है।[6] शब्दों की पुनरावृत्ति यमक है।[7] इन्होंने यमक के दश भेद किए हैं--[8] पदान्तयमक, काञ्चीयमक, समुद्रयमक, विक्रान्तयमक, चक्रवालयमक, सन्दष्टयमक, पादादियमक, पादान्त यमक, चतुर्व्यवसितम् तथा मालायमक।

इनके अतिरिक्त भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में छत्तीस नाट्यलक्षणों[9] का भी प्रतिपादन किया है

---

1. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
   अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वीरो नाटकाश्रयाः।। ना० 2710-16/40
2. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
   उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया।। -- वही - 16/41.
3. वही - 16/42
4. वही - 16/46
5. नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपतः।
   एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते।। -- ना० शा० - 16/53
6. नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदीपम्यं गुणाश्रयम्।
   रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्।। -- वही - 16/57
7. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पदादिषु विकल्पितम्।
   विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत।। -- वही - 16/59
8. वही -- 16/60-62
9. भूषणाक्षरसङ्घातौ शोभेदाहरणेतथा।
   हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्ताभिप्राय एवच।।
   निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम्।
   गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः।।
   दृष्टि चौवोपदिष्टं च विचारस्तद्विपर्ययः।
   भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा।।
   अर्थापत्तिः प्रसिद्धश्च पृच्छा सारूप्यमेव च।
   मनोरथश्च लेशश्च क्षोभोऽथ गुणकीर्तनम्।।
   ज्ञेयान्यनुक्त सिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च।
   षट्त्रिंशल्लक्षणान्येव काव्यबन्धेषु निर्दिशेत्।।
   -- वही - 16/130-134

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिनमें से अधिकांश लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलङ्कार रूप में मान्यता प्रदान की है । इनमें हेतु, लेश, संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, निरुक्त तथा अर्थापत्ति नामतः कालान्तर में हेतु, लेश, सन्देह, दृष्टान्त, निदर्शना, निरुक्त और अर्थापत्ति से सम्बद्ध दृष्टिगोचर होते हैं । भरत प्रतिपादित अर्थापत्ति संज्ञक लक्षण को ही आचार्यों ने अर्थापत्ति नामक अलङ्कार की परिभाषा के रूप में मान लिया है ।

इस प्रकार आचार्य भरत ने सर्वप्रथम काव्य के क्षेत्र में अलंङ्कारों का महत्त्व तथा स्थान सुनिश्चित किया है ।

इसके पश्चात् यहाँ पर पूर्व निर्धारित अलङ्कार शास्त्रियों के वर्गत्रय के आधार पर अलंङ्कारों के स्वरूप तथा महत्व आदि का विवेचन किया जा रहा है--

(1) अलंङ्कारों को काव्य में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने वाले अलङ्कारवादी आचार्य--

भामह-- आचार्य भामह अलङ्कार को काव्य का महत्त्वपूर्ण अङ्ग तथा शोभावर्धक धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं । भामह के मत में जिस प्रकार कान्त होने पर भीवनितामुख भूषणों के बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार काव्य में अन्य सौन्दर्याधायक तत्त्वों के विद्यमान रहने पर भी अलङ्कार के बिना उसका पूर्ण चमत्कार शोभा को प्राप्त नहीं होता ।[1] इस प्रकार भामह के अनुसार अलङ्कार काव्य का अनिवार्य तथा महत्वपूर्ण धर्म है । अपने पूर्व प्रचलित अतिवादी मतद्वय-- (1.शब्दालङ्कारवादी तथा 2. अर्थालङ्कारवादी) के मध्य समन्वय स्थापित हुए भामह ने कहा कि शब्द के शोभाधायक होने से शब्दालङ्कार तथा अर्थ के शोभाधायक होने से अर्थालङ्कार होते हैं अतः दोनों को मानना चाहिए,[2] वे एक दूसरे में अन्तर्मुक्त नहीं हो सकते । भानह वक्रोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल मानते हैं--

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।[3]

भामह ने अनुप्रास, यमक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, शिलष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रसंसा, व्याजस्तुति, निर्दर्शना, उपमारुपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय,संसृष्टि, भाविक तथा आशीः कुल मिलाकर 38 अलङ्कारों का उल्लेख किया है ।[4]

---

1. रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानानम् ।। -- काव्यालङ्कार - 1/13
2. रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमा चक्षते परे । सुपां तिङंच व्युत्पत्तिं वाचं वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी । शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।। – वही - 1/14.15
3. वही - 2/85
4. भामह- काव्यालङ्कार --द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेद ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दण्डी-- दण्डी ने अलङ्कार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है तथा अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है । उनके मत में गुण तो अलङ्कार हैं ही, रस, भावादि भी रसवद्, प्रेयः आदि अलङ्कार ही हैं । इसके अतिरिक्त मुख आदि पञ्च सन्धियों, उपक्षेप आदि चौंसठ सन्ध्यङ्गों, कैशिकी आदि चार वृत्तियों, नर्म आदि षोडशवृत्यङ्गों, भूषण आदि छत्तीस लक्षणों तथा विभिन्न नाट्यालङ्कारों को भी उन्होंने अलङ्कार की संज्ञा प्रदान की है ।[1] दण्डी के मत में काव्य को समृद्ध बनाने वाले धर्म अलङ्कार हैं ।[2] इन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट 35 अलङ्कार स्वीकार किये हैं।[3] स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्तिदीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाधि, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेष, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि तथा भाविक ।

उद्भट-- अलङ्कार सम्प्रदाय में दण्डी के पश्चात् उद्भट का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इनका उपल ब्ध ग्रन्थ काव्यालङ्कारसारसंग्रह है जिसमें भामह की अलङ्कार सम्बन्धी विचारधारा की पुष्टि हुई है । उद्भट ने अपने ग्रन्थ में परुषा, कोमला तथा उपनागरिक वृत्तियों का सर्वप्रथम उल्लेख किया है । इन्होंने दो शब्दालङ्कारों तथा सैंतीस अर्थालङ्कारों का वर्णन किया है ।[4]

वामन-- वामन ने स्वसम्मत काव्य की आत्मा रीति में गुणों की ही विशिष्टता को अनिवार्य निश्चित कर अलङ्कार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व प्रदान किया है, फिर भी वह अलङ्कार की महत्ता को बतलाते हुए कहते हैं कि काव्य अलङ्कार से युक्त होने पर ही ग्राह्य होते है--

"काव्यं ग्राह्यम लङ्कारात् ।"[5]

इन्होंने सौन्दर्य को अलङ्कार कहा है--

"सौन्दर्यम ज़ङ्कारः ।"[6]

वामन के मत में काव्य में सौन्दर्य दोषों के त्याग तथा गुणों तथा अलङ्कारों के ग्रहण से आता है--

"स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् ।"[7]

इनके अनुसार- काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले तत्व अलङ्कार कहलाते हैं--

"तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।"[8]

---

1. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
   व्यावर्णितमिदं चेष्टामलङ्कारतयैव नः ।। काव्यादर्श, 2/367
2. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्करन् प्रचक्षते ।। -- वही - 2/1
3. वही - 2/4-7
4. काव्यालङ्कार सार सङ्ग्रह
5. काव्यालङ्कारसूत्र - 1/1/1
6. वही - 1/12
7. वही - 1/1/3
8. वही - 3/1/2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आचार्य वामन ने शब्दालङ्कारों के दो भेद- यमक तथा अनुप्रास बतलाए हैं ।[1] अर्थालङ्कारों मे- उपमा[2] के भेदोपभेदों का निरुपण करने के पश्चात् अन्य अर्थालङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च बतलाते हुए- प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्पेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप सहोक्ति समाहित, संसृष्टि आदि अलङ्कारों का विशद विवेचन किया है ।[3]

रुद्रट-- सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने ही शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों के व्यवस्थित तथा तर्कसंगत विभाजन की पृष्ठभूमि निर्मित की । इन्होंने शब्दालङ्कार के पांच भेद प्रतिपादित किये-- वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र ।[4] इन्होंने अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया है-- वास्तव, औषम्य, अतिशय तथा श्लेष ।[5] अर्थालङ्कारों के वास्तव संज्ञक वर्ग में 23 अलङ्कारों कीं गणना की गयी है--[6] सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, तथा एकावली ।

औपम्य वर्ग में 20 अलङ्कारों का समावेश है ।[7] उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप अर्थान्तरन्यास, उभय न्यास भ्रान्तिमान् आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व सहोक्ति, सममुच्चय साम्य तथा संम्भव । अतिशय वर्ग में द्वादश भेद होते हैं-- पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तदगुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात तथा अहेतु ।[8]

अन्तिम वर्ग श्लेष में दस अलङ्कार है-- अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, काव्य, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास ।[9]

इस प्रकार रुद्रट ने काव्यालङ्कार में अलङ्कारों का विशद् विवेचन करते हुए कुल मिलाकर 71 भेद निरुपित किये हैं ।

कुन्तक--अलङ्कार तथा अलङ्कार्य के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने कहा है कि " अलङ्कार तथा अलङ्कार्य को पृथक्-पृथक् करके उनकी विवेचना उस काव्य

---

1. तत्र शब्दालङ्कारौ द्वौ यमकानुप्रासौ- काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति, 4/1
2. वही - चतुर्थ अधिकरण, द्वितीय अध्याय-
3. काव्यालङ्कार सूत्र - चतुर्थ अधिकरण तृतीय अध्याय
4. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् ।
   शब्दास्यालंकाराः । श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ।। - काव्यालंकार - 2/13
5. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
   एषामेवविशेषा अन्येतु भवन्ति निःशेषाः । -- वही - 7/9
6. वही - 7/11-12
7. वही - 8/2-3
8. काव्यालङ्कार -- 9/2
9. वही -- 10/2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की व्युत्पत्ति का उपाय होने से ही की जाती है । वस्तुतः अलङ्कार सहित शब्द अर्थ की समष्टि ही काव्य है । इस प्रकार कुन्तक के अनुसार तत्त्व रूप में अलङ्कार तथा अलङ्कार्य की पृथक् सत्ता नहीं है । फिर भी काव्य-सौन्दर्य को हृदयङ्गम करने के लिए व्यवहार रूप में इन दोनों का पृथक् विवेचन किया जा सकता है । और वह उपादेय भी है । कुन्तक ने 'सालङ्कारस्य काव्यता' कहकर अलङ्कार को काव्य का अविभाज्य अङ्ग स्वीकार किया है ।[1] कुन्तक ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन्, उदात्त, समाहित, दीपक, रूपक, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, तुल्योगिता, अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा उपमेयोपमा, परिवृत्ति, निदर्शना, श्लेष, व्यतिरेक, समासोक्ति, सहोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, सन्देह, अपह्नुति, आदि अङ्कारों का निरुपण किया है।[2] आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत उक्त अलङ्कारों का समावेश करते हुए पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत अलङ्कारों पर नवीन रूप से मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं । इन्होंने यथा संख्य, आशीः विशेषोक्ति हेतु, सूक्ष्म तथा लेश आदि पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य अलङ्कारों का खण्डन किया है । उनके मत में ये अलङ्कार, अलङ्कार नहीं अपितु अलङ्कार्य हैं । इस प्रकार अलङ्कारवादी न होते हुए भी आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में अलङ्कारों की मौलिक तथा विशद विवेचना की है ।

इस प्रकार उपर्युक्त आचार्यों ने अलङ्कार का काव्य में सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार किया ।

(2) काव्य के शोभाधायक तत्त्व के रूप में अलङ्कारों की अपरिहार्यता का प्रतिपादन करने वाले आचार्य–

भोज--यद्यपि 'अलङ्कृत होने पर भी गुणरहित काव्य काव्य नहीं होता' यह कहकर भोजदेव ने काव्य में गुणों की तुलना में अलङ्कारों की गौणता स्वीकार की है तथापि वह शोभाधायक तत्व के रूप में काव्य में एक मात्र अलङ्कार योग की अपरिहार्यता को प्रतिपादित करते हैं ।[3]

आचार्य भोज देव ने दण्डी की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अलङ्कारों के त्रिविध वर्ग निर्दिष्ट किए हैं-- वक्रोक्ति स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति । उपमा की प्रधानता होने पर वक्रोक्ति, गुणों की प्रधानता होने पर स्वभावोक्ति तथा रस की प्रधानता में रसोक्ति होती है ।[4]

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण के द्वितीय परिच्छेद में अनुप्रास यमकादि शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है तथा तृतीय और चतुर्थ परिच्छेदों में अर्थालङ्कारों[5] का भी निरुपण किया है । जिनमें- दृष्टान्त, व्यतिरेक, हेतु, भ्रान्तिमान्, सन्देह, उपमा, अर्थान्तरन्यास, दीपक, रूपक, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा,

---

1. वक्रोक्तिजीवित -- 1/6
2. वही -- तृतीय उन्मेष
3. (क) अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
   गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ।। स० क० 1-59
   (ख) 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' इत्येदपि सर्वालङ्कारसाधारणं लक्षणमनुसर्तव्यम्।
   अस्मिन् सति सर्वालङ्कार जातयो वक्रोक्त्यभिधानवाच्या भवन्ति । राघ - भो० शृ० प्र० 1/10 उद्धृत-
4. त्रिविधः खलुअलङ्कारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति तत्रोपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये क्रोक्तिः,सोऽपिगुण प्रधान्ये स्वरक्तिः विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्तुसोक्तिरिति ।-- शृङ्गार प्रकाश
5. सरस्वती काण्ठाभरण- द्वितीय, तृतीय तथा चतर्थ अध्याय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुल्ययोगिता, सहोक्ति श्लेष, समाधि, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, परिकर अतिशयोक्ति, आदि का विवेचन है ।

इस प्रकार लगभग समस्त अलङ्कारों को अपने ग्रन्थ में स्थान देते हुए भोजदेव ने अनुप्रास, उपमा तथा रूपक, के अनेक भेद-प्रभेद भी प्रतिपादित किए हैं ।

हेमचन्द्र-- आचार्य हेमचन्द्र के काव्य लक्षण- "शब्दार्थौ सालङ्कारौ काव्यम्" से विदित होता है कि वह काव्य में अलङ्कारों की अपरिहार्यता के पोषक हैं । 'अङ्गाश्रिता अलङ्काराः' कहकर इन्होंने अलङ्कार का सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है । हेमचन्द्र ने शब्दालङ्कारो तथा अर्थालङ्कारो का विशद विवेचन करते हुए शब्दालङ्कार के अन्तर्गत- अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुन रुक्तवादभास[1] तथा अर्थालङ्कारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति अनुमान, कारण माला संकर आदि अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है ।

वाग्भट-- वाग्भट ने काव्य के लक्षण में 'गुणालंकारभूषितम्' पद का प्रतिपादन करके काव्य में अलंङ्कार को अपरिहार्य माना है तथा इन्होंने यमकादि शब्दालङ्कारों तथा स्वभावोक्ति, उपमा, प्राकृत, अन्यथोपमा, अनन्वयालङ्कार समुच्चयोपमा, मालोपमा, रूपक प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्ति आक्षेप, संशय, निश्चय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, श्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुत प्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर तथा संकर आदि को अर्थालङ्कारों के वर्ग में निरूपित किया है ।[2]

जयदेव-- जयदेव के अनुसार जिससे, अलङ्कृत किया जाये वही अलङ्कार है । इस कारण प्रधान व्युत्पत्ति से मानव शरीर कीशोभा करने वाले हारादि की भांति काव्य की शोभा करने वाले तत्व अनुप्रास और उपमादि अलङ्कारों के बोधक होते है ।[3] इनके मत में जिस प्रकार उष्णता अग्नि का धर्म है उसी प्रकार अलङ्कार भी काव्य का धर्म हैं, उष्णता के बिना अग्नि नहीं हो सकती तथा अलङ्कार के बिना काव्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है ।[4] इस कथन द्वारा जयदेव काव्य में अलङ्कारों के अविभाज्य अस्तित्व तथा प्राधान्य का समर्थन करते दृष्टिगत होते हैं ।

---

1. काव्यानुशासन
2. वाग्भटालङ्कार
3. शब्दार्थयोः प्रसिद्धया वा कवेः प्रौढिवशेन वा ।
   हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः ।।-- चन्द्रालोक 5/1
   अलङ्क्रियतेऽनेनेति करणप्रधानव्युत्पत्त्याऽलङ्कारशब्दः शरीरसुषमाधायकत्वेन हारादीनामिव काव्यशोभा सम्पादकत्वेन अनुप्रासोपादीनामलङ्काराणां वाचकः ।। --टीकाभाग
4. अङ्गीकरोतियः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ।। -- वही - 1/8

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्होंने अनुप्रास, यमक, चित्र आदि शब्दालङ्कारों और उपमा, अनन्वप, उपमेयोपमा, रूपक, परिणाम, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, अनुमान, अर्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, परिकर, परिकराङ्कुर, अतिशयोक्ति, प्रौढोक्ति, सम्भावना, प्रहर्षण, विषादनम्, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्ति दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, श्लेष अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तर न्यास, विकस्वर, पर्यायोक्ति व्याजस्तुति, आक्षेप, गूढाक्षेप, विरोध, विरोधाभास, असम्भव, विभावना, विशेषोक्ति, असङ्गति, विषम, विचित्र, अधिक, अन्योन्यम्, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, माला दीपक, सार, उदारसार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, उल्लास, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगण, अवज्ञा, प्रश्नोत्तर, पिहित, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, भाविकच्छवि, उदात्त, अत्युक्ति आदि अर्थालङ्कारों का सम्यक् निरूपण किया है ।

3.काव्य में अलङ्कारों की परिहार्यता को मानने वाले आचार्य

आनन्दवर्धन-- आनन्दवर्धन और उनके मतानुयायियों ने रस तथा ध्वनि के आधार पर गुण और अलङ्कार का भेद प्रतिपादित करते हुए गुण को अधिक महत्त्वशाली माना है । उनके मत में उस प्रधान भूत अङ्गी रस के आश्रित रहने वाले धर्म गुण तथा शब्दार्थ रूप अङ्ग पर आश्रित रहने वाल धर्म कटक कुण्डलादि के समान अलङ्कार कहलाते हैं

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत् ॥[1]

ध्वनिकार के अनुसार- प्रधानभूत (अङ्गी) श्रृङ्गार रस के सभी प्रमेदों में यत्न पूवर्क समान रूप से (निरन्तर) उपनिबद्ध अनुप्रास अलंकार उस का अभिव्यञ्जक नही होता ।[2] शक्ति होते हुए भी ध्वन्यात्मभूत श्रृङ्गार में और विशेष रूप से विप्रलम्भ श्रृङ्गार में यमकादि का निबन्धन कवि के प्रमादित्व कासूचक है ।[3] इस प्रकार उन्होंने श्रृङ्गार रस के वर्णन में शब्दालङ्कारों के अधिक प्रयोग को अनुचित बतलाया है और ध्वनि काव्य में प्रयोज्य अलङ्कार का सङ्केत करते हुए कहते है कि जिस अलङ्कार का प्रयोग रसाक्षिप्त रूप से किया जा सके तथा जो बिना किसी प्रथक् प्रयत्न के प्राप्त हो जाये ध्वनि में वही अलङ्कार मान्य है--

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥[4]

---

1. ध्वन्यालोक -- 2/6
2. श्रृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नोदकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशक : ।। -- वही 2/14
3. ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ।। -- वही - 2/15
4. वही - 2/16

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आनन्दवर्धन ध्वनि के आत्मभूत श्रृङ्गार के अभिव्यञ्जक अलङ्कार वर्ग का निरुपण करते हुए लिखते हैं कि-- ध्वन्यात्मक श्रृङ्गार में सम्यक् समीक्षा करके प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलङ्कार वर्ग वास्तविक अलंकारता को प्राप्त होता है ।[1]

ध्वनिकार ने व्यंग्यार्थ प्रधान तथा व्यंग्यार्थ अप्रधान काव्य को क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत काव्य कहा है तथा व्यंग्य रहित काव्य को 'चित्र' की संज्ञा से अभिहित किया है ।[2] इस प्रकार चित्रकाव्य रस आदि तात्पर्य से रहित और व्यंग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य होता है । वह केवल शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित एक प्रतिकृति मात्र है । अतः चित्र काव्य वह अलङ्कार निबन्ध है जहाँ कवि की विवक्षा रसाभावादि पर नहीं रहती । आनन्दर्वधन ने रसभावादि से शून्य किन्तु अलङ्कृत काव्य को चित्र काव्य की संज्ञा दी है ।

मम्मट-- आचार्य मम्मट ने अलङ्कारों को कटक कुण्डल आदि के सदृश शब्दार्थ रूप शरीर का अनिवार्य धर्म स्वीकार किया है--

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[3]

उनके अनुसार काव्य का अनिवार्य तत्त्व अलङ्कार नहीं है क्योंकि अलङ्कार की अनुपस्थिति में भी काव्य की हानि नहीं होती ।[4]

इस प्रकार मम्मट ने रस के पृष्ठाधार पर अलङ्कार को गुण की अपेक्षा गौण स्थान प्रदान किया है । अलङ्कार शब्दार्थ के आश्रित होते हैं और शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं । किन्तु अलङ्कार शब्दार्थ की शोभा द्वारा रस का उत्कर्ष करते हैं । सरस रचना किसी गुण से अवश्य शोभित होती है परन्तु अलङ्कार के बिना यह आवश्यक नहीं कि रचना की सरसता में कोई न्यूनता आ जाये । अलङ्कार के प्रयोग से उस रचना की शोभा में वृद्धि अवश्य हो सकती है । सरस सचना में विद्यमान अलङ्कार

---

1. ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
   रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ।। -- ध्वन्यालोक - 2/7
2. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
   काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ।।
   चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
   तत्र किञ्चिच्छब्दचित्र वाच्यचित्रमतःपरम् ।।
   ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेष-प्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल वाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रेयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यंयदाभासते तच्चित्रम् ।

   तदिदमुक्तम्--
   रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
   अलङ्कारनिबन्धो यः सचित्र विषयो मतः ।। ध्वन्यालोक -- 3/41,42 वृत्ति सहित
3. काव्यप्रकाश -- 8/67
4. तददोषौशब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।
   क्वापीत्यनेनैताह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालयङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहीनः ।
   - वही 1/4 वत्ति सहित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कभी-कभी उस के अपकारक भी सिद्ध हो जाते हैं और रस विहीन रचना में अलङ्कार उक्ति वैचित्र्य मात्र को प्रदर्शित करते हैं । इस प्रकार मम्मट अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते हैं किन्तु शोभाधयक रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं ।[1]

मम्मट ने अलङ्कारों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त करके विवेचन किया है– शब्दालङ्कार में वक्रोक्ति अनुप्रास, यमक श्लेष तथा चित्र अलङ्कारों का वर्णन है ।[2] इसके पश्चात् मम्मट ने पुनरुक्त वदाभास का निरुपण किया है क्योंकि यह शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों में परिगणित होता है। इसी लिए काव्य प्रकाशकार ने इस का वर्णन दोनों के मध्य में करना उचित समझा ।

इसी कारण इसे उभयालङ्कार भी कहा जाता है ।

II. अर्थालङ्कार[3] उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससन्देह रूपक, अपह्नुति, श्लेष समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुत प्रसंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक,, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, पर्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर व्याजोक्ति, परिसंख्या कारणमाला,, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असङ्गति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मृति भ्रान्ति मान, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि तथा सङ्कर ।

इस प्रकार मम्मट ने काव्यप्रकाश में शब्दालङ्कार के 5 भेद, उभयालङ्कार का एक भेद तथा अर्थालङ्कार के 61 भेद कुल मिलाकर 67 भेदों का निरुपण किया है ।

विश्वनाथ-- आचार्य विश्वनाथ ने भी मम्मट की पदसरणि का अनुसरण करते हुए अलङ्कार को काव्य के सौन्दर्यवर्धक रूप में मान्यता देते हुए शब्दार्थ का अस्थिर धर्म स्वीकार किया है । उनके मत में अलङ्कार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परया रस का प्रायः उपकारक हुआ करता है ।[4] इन्होंने पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, श्लेष चित्र इत्यादि शब्दालङ्कारों तथा उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम संदेह, भ्रांन्तिमान् उल्लेख, अपह्नुति निश्चय, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर , श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, अनुमान हेतु, अनुकूल, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, विरोध, असंगति, विषम, सम, विचित्र विशेष व्याघात, कारणमाला, मालादीपक, एकावली, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, उत्तर, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण,

---

1. वही - 8/67 की वृत्ति
2. वही - नवम उल्लास
3. काव्य प्रकाश -- दशम उल्लास
4. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभाति शायिनः ।
   रसादीनुपकुर्वन्तो ऽलङ्कारास्ते ऽङ्गदादिवत् ।।
   --साहित्य दर्पण- 10/1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूक्ष्म, व्याजोक्ति स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, संसृष्टि संकर आदि अर्थालङ्कारों का विशद विवेचन किया है ।[1] इस प्रकार 76 अर्थालङ्कारों में 6 शब्दालङ्कारों के योग से इनकी संख्या 82 हो जाती है ।

केशवमिश्र-- केशव मिश्र के अनुसार- निर्दोष तथा गुण युक्त काव्य में अलङ्कारों के द्वारा रत्न अलङ्करण के सदृश एक अन्य प्रकार की ही सुषमा उत्पन्न हो जाती है-

गुणवत्यपि निर्दोषेऽलङ्कारैः काव्यराजनि ।
जायतेऽन्यैव सुषमा रत्नालङ्करणैरिव ।[2]

इसके द्वारा इन्होंने काव्य में अलङ्कारों को शोभावर्धक बतलाकर उनकी महत्ता प्रतिपादित की है।केशव मिश्र ने शब्दालङ्कारों तथा अर्थालङ्कारों का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया ।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारों को "काव्यात्मानो व्यङ्ग्यस्य रमणीयता प्रयोजका अलङ्काराः"[3] कहते हुए लगभग सभी प्रमुख अलङ्कारों का वर्णन किया है--

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, उदाहरण, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्य योगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असङ्गति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योऽन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, सम काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, अनुमान यथासंख्य पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, प्रौढोक्ति, ललित, प्रहर्षण, विषाद, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश, तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, सामान्य तथा उत्तर आदि हैं ।

इस प्रकार क्रमशः समस्त आचार्यों के अलङ्कार विषयक विचारों का निरुपण किया गया है ।

अलङ्कार और अलङ्कार्य में अन्तर-- अलङ्कार तथा अलङ्कार्य दोनों काव्य के प्रमुख पक्षों के सहायक तत्त्व हैं । काव्य के भाव और कला दो पक्ष होते हैं । अलङ्कार्य, जिस के अन्तर्गत रस, वस्तु आदि आते हैं, भाव पक्ष से सम्बन्धित है । अलङ्कार का सम्बन्ध उसके कला पक्ष से है । अतः भाव पक्ष और कला पक्ष में जो सम्बन्ध और भेद है वहीं अलङ्कार्य तथा अलङ्कार में भी हो सकता है । यद्यपि पाश्चात्य कलावादी और अभिव्यंजनावादी विद्वान सैद्धान्तिक दृष्टि से अलङ्कार्य तथा अलङ्कार में भेद नहीं मानते हैं तथापि व्यावहारिक रूप से संस्कृत के आचार्य दोनों में भिन्नता स्वीकार करते

---

1. साहित्य दर्पण -- दशम परिच्छेद
2. अलङ्कार शेखर -- चतुर्थ रत्न, प्रथम मरीचि
3. रस गङ्गाधर -- द्वितीय आनन ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं । कुन्तक के अनुसार यदि शरीर को अलङ्कार भी कहा जाये तो वह अन्य वस्तु को अलङ्कृत कैसे करेगा, क्योंकि शरीर तो अलङ्कार्य है । कोई स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता ।[1]

अलङ्कारों के प्रकार

अलङ्कारों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है--

1. शब्दालङ्कार
2. अर्थालङ्कार
3. उभयालङ्कार

अलङ्कारों के विभाजन का आधार-- अलङ्कारों का विभिन्न वर्गों में विभाजित करने के लिए उनके नियामक तत्त्वों का विवेचन आवश्यक है । इस सम्बन्ध में दो प्रमुख सिद्धान्त हैं-- अन्वयव्यतिरेक भाव और आश्रयाश्रयि भाव । मम्मट के मत से इस विभाजन का आधार अन्वयव्यतिरेक भाव है तथा रूय्यक के मत से आश्रयाश्रयि भाव है ।[2] जिसके रहने पर जो रहे और जिसके न रहने पर जो न रहे, वह व्यतिरेक है । 'यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः । यदभावे यद भावो व्यतिरेकः' इसी आधार पर मम्मट ने अनुप्रासादि को शब्दालङ्कार, उपमादि को अर्थालङ्कार तथा पुनरुक्तवदाभास, श्लिष्ट परम्परित रूपक और शब्द हेतुक अर्थान्तर न्यास को उभयालङ्कार माना है। रूय्यक अपने ग्रन्थ 'अलङ्कारसर्वस्व' में अनुप्रासादि, उपमादि और पुनरुक्तवदाभासादि उक्त अलङ्कारों को क्रमशः शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ये क्रमशः शब्द अर्थ और शब्दार्थ पर आश्रित हैं, अर्थात् इनमें आश्रयाश्रयिभाव है । मम्मटसम्मत अन्यव्यतिरेक भाव के खण्डन में इन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इस आधार पर तो श्रौती उपमा (जिसमें 'इव' का प्रयोग आवश्यक है- 'इव' को हटा देने पर यह अलङ्कार नहीं रहता) शब्दालङ्कार मानी जायेगी, किन्तु इसे स्वयं मम्मट ने अर्थालङ्कार के अन्तर्गत माना है । रूय्यक का आक्षेप था, श्रौती उपमा को अन्वयव्यतिरेक के आधार पर शब्दालङ्कार के अन्तर्गत स्थान प्राप्त होता है, परन्तु श्रौती उपमा में 'इव' शब्द की उपस्थिति के कारण अलङ्कारत्त्व नहीं है अपितु 'इव' के तात्पर्य के कारण है । अतः श्रौती उपमा को अन्वयव्यतिरेक के आधार पर अर्थालङ्कार मानना ही उचित है न कि शब्दालङ्कार ।

इस प्रसंग में एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि उभयालङ्कार होते हुए भी पुनरुक्तावदाभास को शब्दालङ्कारों के साथ और श्लिष्ट परम्परितरूपक तथा शब्द हेतुक अर्थान्तरन्यास को अर्थालङ्कारों

---

1. शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्क्रुतेऽपरम् ।
   आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ।। -- वक्रोक्ति जीवित 1/13
2. लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलङ्कारनिबन्धनम् । अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ। न तदलङ्कारत्वे । तदलङ्कारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालङ्कारत्वप्रसंगात् । तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तन मतानुसृतिरिति ।
   अलङ्कार सर्वस्व, उपसंहार प्रकरण ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बीच स्थान क्यों मिलता चला आया है, इस शङ्का का समाधान चमत्काराधिक्य में है । एक ओर पुनरुक्तवदाभास में शब्दगत चमत्कार का अधिक्य है तो अर्थगत कम और दूसरी ओर स्थिति इसके ठीक विपरीत है ।

वक्रोक्ति, यमक और लाटानुप्रास, अन्वयव्यतिरेक की कसौटी पर शब्दार्थालङ्कार सिद्ध होते हैं परन्तु शब्दगत चमत्कार की अधिकृता के करण इन की गणना शब्दालङ्कारों में ही की गयी है ।

शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का सापेक्षिक महत्त्व

भामह के समय में विद्वानों का एक वर्ग अर्थालङ्कारों को अधिक महत्व प्रदान करने के पक्ष में था और दूसरा वर्ग शब्दालङ्कारों को किन्तु भामह ने समन्वयवादी के रूप में दोनों के ही महत्व को समान रूप से स्वीकार किया है ।[1] दण्डीआनन्दवर्धन तथा कुन्तक ने यद्यपि वाचकालङ्कारों को शब्दतः हेय नहीं कहा किन्तु अलङ्कारों की उनकी प्रतिपादन शैली से शब्दालङ्कारों की निकृष्टता और अर्थालङ्कारों की उत्कृष्टता ही लक्षित होती है । दण्डी ने केवल दो शब्दालङ्कारों का निरूपण किया- अनुप्रास और यमक और दोनों को ही समादर की दृष्ट से नहीं देखा । उनके मत में अनुप्रास का अर्थ शैथिल्य है और यह श्लेष गुण के अभाव का अपर नाम है । गौड (अपेक्षाकृत निकृष्ट) वर्ग के अवलम्बी ही इसेअपनाते हैं ।[2] यमक के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उसका अकेला प्रयोग मधुरताजनक नहीं है ।[3]

आनन्दवर्धन ने यमकादि अलङ्कारों का प्रयोग विप्रलम्भ श्रृङ्गार में कवि के प्रमाद का सूचक घोषित किया है । सरस रचना में यमक श्रृङ्गार रस को अंग बना देता है, और स्वयं अंगी बन जाता है ।[4]

---

1. (क) रूपकादिरलङ्काररस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः । काव्यालङ्कार 1/13
   (ख) रूपकादिमलङ्कारं वाह्यमाचक्षते परे ।
   सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ।।
   तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्ति रीदृशी ।
   शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।।
   वही 1.14,15
2. श्लिष्टपस्पृष्ट शैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् ।
   शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा ।।
   अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात् ।
   वैदर्भैर्मालतीदामलङ्घितं भ्रमरैरिति ।। काव्यादर्श 1/43.44
3. आवृत्तिं वर्णसङ्घातगोचरां यमकं विदुः ।
   तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ।। वही 1/61
4. ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे यमकादि निबन्धनम् ।
   शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ।।
   xx यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः ।
   xxx अपृथयग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ।
   यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामंगगता यमकादीनां त्वंगितैव ।
   ध्वन्यालोक, 2/15,16 तथा वृत्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुन्तक की भी यमक के सम्बन्ध में यही विचारधारा है कि यह शोभारहित अलङ्कार है 'स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते ।'

किन्तु परवर्ती आलङ्कारिक नरेन्द्रप्रभसूरि ने दोनों का ही तुल्य कक्षत्व स्वीकार किया है । उनका कथन है कि सरस्वती का एक कुण्डल अर्थालङ्कार है तो दूसरा शब्दालङ्कार है ।

शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार में किसका गौणत्व है और किसका प्राधान्यः इस विषय में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यद्यपि काव्य के शब्दार्थ शरीरात्मक होने के कारण काव्य में दोनों का ही तुल्यकक्षत्व अपेक्षित है, क्योंकि शरीर की उत्कृष्टता शरीरी की उत्कृष्टता में हेतु होती है और काव्य शरीर की उत्कृष्टता के हेतुओं में अलङ्कार एक प्रमुख घटक है; किन्तु अलङ्कारों में भी अर्थालङ्कार ही अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि शब्दालंङ्कारों की तुलना में अर्थालङ्कारों की प्रतीति आन्तरिकहोती है । इस विषय में पण्डित राज जगन्नाथ ने भी "यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमम्--- ।" कहकर अर्थचमत्कृति की तुलना में शदचमत्कृति के प्रधान होने की स्थिति में अधम काव्य माना है । इस प्रकार उन्होने भी प्रकारान्तर से शब्दलाङ्कार की तुलना में अर्थालङ्कार का अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया है । इसके अतिरिक्त (भोज के शब्दालङ्कार विवेचन को छोड़कर संस्कृत काव्यशास्त्र में अलङ्कारों के क्रमिक विकास से भी यह स्पष्ट है कि विभिन्न आचार्यों ने नये-नये अर्थालङ्कारों की ही उद्भावना के लिए प्रयत्न किया जो कि अर्थालङ्कारों के महत्त्वातिशय का सूचक है । अन्ततः अग्निपुराणकार के शब्दों में अर्थालङ्कारों की महत्ता इस प्रकार बतायी जा सकती है--

अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते ।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥
अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती ॥[1]

अलङ्कारों का क्रमिक विकास-- संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि में केवल चार अलङ्कारों का निर्देश किया है । इसके पश्चात् अग्निपुराण में अलङ्कारों की संख्या 16 दी गयी है । अग्नि पुराण के पश्चात् ईसा की छठी शताब्दी तक का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु अलङ्कारों का क्रमिक विकास होता रहा । भामह ने काव्यालङ्कार में 38 अलङ्कारों का उल्लेख किया है । दण्डी ने 37, उद्भट ने 41, वामन ने 31, रुद्रट ने 62, भोजराज ने 72, मम्मट ने 67, रुय्यक ने 82 तथा जयदेव ने 89 अलङ्कारों का वर्णन किया है । यह युग अलङ्कार विकास का मध्य युग माना गया है । रुय्यक के समय तक अलङ्कारों की संख्या 124 तक पहुंच गयी । इसके पश्चात् विश्वनाथ ने 88 अप्पयदीक्षित ने 124 और पण्डित राज जगन्नाथ ने 71 अलङ्कार माने है । इस प्रकार अलङ्कारों का क्रमशः विकास होते-होते उनकी संख्या 200 से भी अधिक हो गयी । संस्कृत काव्यशास्त्र की पुस्तकों में प्रायः विभिन्न आचार्यों द्वारा निरुपित अलङ्कारों की संख्या भिन्न-भिन्न प्राप्त

---

1. अग्निपुराण, 344/1,2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती है । इसका कारण सम्भवतः यह है कि कुछ विद्वानों ने अलङ्कारों की कुल संख्या में भेदों की भी गणना कर ली और कुछ विद्वानों ने भेदों को पृथक् अलङ्कार नहीं माना । एक और कारण यह है कि जिस प्रकार रूय्यक ने अतिश्योक्ति अलङ्कार का दो बार विवेचन किया है, किन्तु दोनों स्थलों पर उसका स्वरूप भिन्न है । अब यदि एक ही नाम वाले इन दोनों अलङ्कारों को एक ही माना जाये तो रूय्यक द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या 81 होती है और यदि स्वरूप भेद के कारण इनको दो पृथक् अलङ्कार माना जाये तो कुल संख्या 82 हो जाती है । यही स्थिति अन्यत्र भी समझनी चाहिएं।

अलङ्कारों की संख्या को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लोभ का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत वर्णन भी अलङ्कार नाम से प्रचलित हुए जिनका सम्बन्ध अलङ्कार्य अर्थात् रस को किसी भी रूप में अलङ्कृत करने के साथ नहीं है । आज भी नये-नये अलङ्कारों की प्रकल्पना हो रही है । दण्डी के शब्दों में " ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यति" (काव्यदर्श 2/1) ।

यदि अलङ्कार वाणी के प्रत्येक विलास का नाम है तो सभी अलङ्कार अलङ्कार संज्ञा से विभूषित हो सकते हैं, किन्तु यदि अलङ्कार से अभिप्राय करण वाचक रूप 'अलङ्क्रियते अनेनेत्यलङ्कार' है तो प्रमाण, सूक्ष्म पिहित आदि को उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा के समकक्ष नहीं रखा जा सकता ।

अलङ्कारों का वर्गीकरण-- भामह ने वाणी के समग्र व्यापार को दो वर्गों में विभक्त किया है-- वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति, और वक्रोक्ति को ही काव्य चमत्कार का बीज माना है ।

दण्डी ने भी समस्त वाङ्मय को दो वर्गों में विभाजित किया- वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति, और स्वभावोक्ति को महत्त्व प्रदान किया ।

अलङ्कारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से वर्गीकृत करने का श्रेय रूद्रट को है । इन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में निरूपित 62 अलङ्कारों को छः वर्गों में विभाजित किया । अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार श्रेणियों में विभक्त किया है ।[1]

रुद्रट के पश्चात् रूय्यक और विद्याधर ने अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है जिसको सुव्यवस्थित एवं स्पष्ट रूप से मल्लिनाथ ने वर्गीकृत किया है--

1. सादृश्यमूलक अलङ्कारवर्ग

(क) भेद प्रधान - व्यतिरेक आदि ।

(ख) अभेद प्रधान आरोपमूलक-रूपक आदि । अध्यवसायमूलक- उत्प्रेक्षा आदि ।

(ग) भेदाभेद प्रधान- उपमा आदि ।

2. औपम्यगर्भ अलङ्कारवर्ग

(क) पदार्गत - तुल्ययोगिता और दीपक ।

---

1. अर्थस्यालङ्काराः वास्तवौपम्यमतिशयःश्लेषः ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निश्शेषाः ।। काव्यालङ्कार 7/9

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ख) वाक्यार्थगत - प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना ।

(ग) भेद प्रधान-व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति ।

(घ) विशेषण वैचित्र्य-श्लेष ।

(च) अप्रस्तुत प्रशंसा

(घ) अर्थान्तरन्यास

(ज) पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप

3. **विरोधमूल-**विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष व्याघात, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम ।

4. **श्रृङ्खलामूलक अलङ्कारवर्ग-**कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार ।

5. न्यायमूलक अलङ्कारवर्ग

(क) तर्कन्यायमूल-काव्यलिङ्ग, अनुमान ।

(ख) वाक्यन्याय अथवा काव्यन्यायमूलक-यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि ।

(ग) लोकन्याय - प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, अतद्गुण और उत्तर ।

6. **गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलङ्कार वर्ग-**सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति ।

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रूद्रट, रूय्यक और विद्याधर के विवेचन से सहायता लेते हुए अर्थालङ्कारों को चार प्रमुख प्रकारों में विभक्त किया है । और नौ भेद गिनाये हैं--

प्रमुख प्रकार--

1. प्रतीयमान वस्तुगत
2. प्रतीयमानौपम्य
3. प्रतीयमान रस भावादि
4. अस्फुट प्रतीयमान

अवान्तर विभाग-

1. साधर्म्यमूल
2. अध्यवसायमूल
3. विरोधमूल
4. वाक्य न्याय मूल
5. लोक व्यवहार मूल
6. तर्कन्याय मूल
7. श्रृङ्खला वैचित्र्य मूल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

8. अपह्नव मूल
9. विशेषण वैचित्र्य मूल ।

इस प्रकार भामह, दण्डी आदि अलङ्कार शास्त्रियों ने अलङ्कारों का विशद रूप से वर्णन, वर्गीकरण एवं महत्व प्रतिपादित किया है तथा अन्य आचार्यों ने भी प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः न्यूनाधिक रूप में अलङ्कारों की सत्ता तथा महत्ता को स्वीकार किया है । अलङ्कारों के स्वतंत्र चिन्तन तथा विकास की दृष्टि से रुय्यक तक का समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इनकेपरवर्ती आचार्यों द्वारा अधिकांश अलङ्कारों के आविर्भाव का कारण प्रायः अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन मात्र प्रतीत होता है । यथा-अप्पय दीक्षित द्वारा स्वकल्पित अलङ्कारों में से अनुपलब्धि, अनुमिति , ऐतिह्य शब्द प्रमाण और स्मृति प्रमाण आदि अलङ्कारों का नामकरण तत्तत् प्रमाणों के आधार पर किया गया है ।

काव्य के बाह्य सौन्दर्याधायक तत्वों में जितनी व्यापक चर्चा अलङ्कारों के विषय में हुई, उतनी अन्य किसी तत्त्व विषय में नहीं । यद्यपि कालिदास की उक्ति 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' के आधार पर शब्द और अर्थ के चारुत्व को अभिवृद्ध करने वाला अतिप्राकृत तत्त्व भी उसका अलङ्करण है, उसके सौन्दर्य का अनुभावयिता है तथापि, 'न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनितानन्म्' इस उक्ति के अनुसार वनिता के कटकादि बाह्या भूषणों के समान काव्य में शब्द तथा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाले अनुप्रासो पमादि अलङ्कारों का महत्त्व अपरिहार्य है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सप्तम अध्याय

छन्द-योजना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सप्तम अध्याय

छन्द - योजना

काव्य के कुछ अनिवार्य आन्तरिक तत्व होते हैं तथा कुछ आवश्यक बाह्य उपकरण । आन्तरिक तत्वों में भाव तथा कल्पना का स्थान सर्वोपरि है, तो बाह्य उपकरणों में भाषा अलङ्कार एवं छन्द का । तत्त्व वस्तुतः बीज है, तो उपकरण उस बीज का पोषण करने वाले घटक और इन दोनों के सम्मिलित विकास के द्वारा फल है काव्य जिस प्रकार उत्तम फल के लिए बीज की गुणवत्ता तथा क्षेत्र, सिंचाई और खाद इत्यादि की समय समय पर समुचित व्यवस्था एवं देखरेख आवश्यक होती है, उसी प्रकार उत्कृष्ट काव्य के लिए उसके अंतरंग तथा बहिरङ्ग दोनों का सामंजस्यपूर्ण सन्निवेश आवश्यक है । दोनों में से एक की भी शिथिलता होने पर भी काव्य का मूल्य उस स्तर तक नहीं पहुँच पाता, जिसकी कवि अपेक्षा करता है ।

यह एक सार्वभौम व्यावहारिकता है कि, किसी वस्तु के अन्तर्निहित तत्त्व तक पहुंचने के लिए सर्वप्रथम उसके आकार पर दृष्टि जाती है । यदि वस्तु का आकार तथा बाह्य स्वरूप आकर्षक एवं सहज ज्ञेय अथवा बोधगम्य है, तो उस वस्तु के प्रकार को जानने की रुचि कुछ बढ़ जाती है । उसी प्रकार काव्य आकार गत परिमाण यदि जटिल तथा विषय के विपरीत नहीं है, तो काव्य का रसास्वाद सहृदय के लिए सरल हो जाता है । जब छन्द की चर्चा की जाती है, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि छन्द किस प्रकार काव्य के आकागत परिमाण को प्रभावित करता है । सामान्य रूप से कहा जा सकता है, कि छन्द पदों का निश्चित क्रम, निश्चित संख्या और निश्चित मात्रात्मक बन्ध है, जो पदविन्यास से भिन्न है । इसका सम्बन्ध पद्य काव्य से है । छन्द सामान्य पद विन्यास अथवा वाक्य विन्यास से भिन्न कथ्य को लय, यति, गति और तुक से युक्त वाक्य योजना में निबद्ध करने वाली सफाई है ।

इस प्रकार बाह्य उपकरणों में सहृदय के दृष्टि पथ में आने वाला प्रथम घटक काव्य का मात्रात्मक विस्तार है, तथा निश्चय ही यह विस्तार सहृदय के मनोविज्ञान को प्रभावित करता है । अतः काव्य के आकारगतस्वरूप में छन्द की महत्ता अपरिहार्य है । वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के साहित्य में जहाँ-जहाँ पद्यबन्ध हैं, वहाँ छन्दोबद्धता है । यहाँ तक कि वैदिक तत्त्वार्थ के अवबोध हेतु जिन छः अंगों की गणना की गई, उनमें छन्द को भी अन्यतम रखा गया ।[1] छन्द की वेदाङ्गता इस तथ्य को भी सिद्ध करती है, कि छन्द केवल मात्रा अथवा वर्ण विस्तार मात्र नहीं, अपितु काव्य के प्राणभूत अर्थ से भी उसका सम्बन्ध है । शरीर में जो स्थान पाद (चरणों) का है वेदाङ्गों में वही स्थान छन्द का है । जैसा कि निम्नरूपक से ज्ञात होता है-

---

1. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसा चय ।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु ।।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते
ज्योतिषामयन नेत्रं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते । ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते । ।

पाद शरीर के आधार स्थानीय होते हैं, जो एक ओर सम्पूर्ण शरीर के भार को वहन करते हैं, तथा दूसरी ओर उसे गति प्रदान करते हैं । छन्द भी काव्य शरीर रूप शब्द और अर्थ को वहन करता हुआ उसे गतिशील बनाता है । कुछ आधुनिक विचारधारा वाले पाश्चात्य विचारों से प्रभावित विचारक काव्य में छन्दों की सत्ता तो स्वीकार करते हैं किन्तु काव्यार्थ अथवा काव्य पाठ की स्निग्धता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते । अतः परम्परागत अवधारणा के विरुद्ध वे छन्दोबद्ध काव्यरचना का ही विरोध करते हैं । तथा अपने पक्ष में वे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं--

1. जब हमारे विचार जगत् में छन्द का कोई स्थान नहीं, तो फिर छन्द लिखे ही क्यों जाएँ ।
2. छन्द एक प्रकार का बन्धन है जो कलाकार की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा डालता है ।
3. प्राचीन छन्दों में अब आकर्षण नहीं रह गया है, अतः वे त्याज्य हैं ।

उक्त विचारों के फलस्वरूप ही आधुनिक साहित्य के प्रयोगवादी काव्य में अतुकान्त तथा अगीत काव्य परम्परा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, जिसका प्रभाव यथाकथञ्चित् समसामयिक संस्कृत काव्य पर भी दृष्टिगोचर हो रहा है । किन्तु गहराई से विचार करने पर छन्द का जो यथार्थ तात्पर्य है, उसका सम्बन्ध प्राचीन अथवा नये छन्द अथवा अगीत या अतुकान्त आदि रचना-विधान से रञ्चमात्र नहीं। अपितु जहाँ काव्यत्व है, वहाँ सीमा अवश्य है । उदाहरणार्थ जब किसी विषय पर कोई निबन्ध लिखा जाता है, तो उसके विस्तार की कोई सीमा नहीं होती । जितने विस्तार में विषयवस्तु को सम्यक् विवेचित किया जा सके वही उस की सीमा है । वह दो पृष्ठ भी हो सकता है; और दीर्घकाय प्रबन्ध भी । किन्तु कविता, चाहे वह प्राचीन छन्दों में हो अतुकान्त हो अगीत हो अथवा कोई अन्य, निश्चित पङ्क्ति का विस्तार ही अपेक्षित होता है ।

जहाँ तक विचारों में छन्द के स्थान का प्रश्न है, तो छन्द न तो विचार है, और न विचारों की विषयवस्तु, अपितु यह बिखरे हुए विचारों को, तथा विचार में आने वाले बृहत् शब्द समुदाय में से चयन कर उन्हें व्यवस्था प्रदान करने वाला अनुशासन है; और अनुशासन रचनाकार की सृष्टि हो । यहाँ तक कि विश्व सृष्टि में भी सर्वप्रथम 'ऋत' के रूप में व्यवस्था ही उत्पन्न हुई । यह अनुशासन बन्धन नहीं होता । शेष रही प्राचीन छन्दों के आकर्षण की बात, तो किसी भी छन्दशास्त्री ने यह नहीं कहा कि नए छन्दों की रचना नहीं की जा सकती । यदि व्यापकता से देखा जाए, तो जितनी भी नवीन विधाएँ हैं, उनमें भी कहीं न कहीं कोई भी लय, यति, गति और तुक विद्यमान है, भले ही वह तुक चरण के अन्त में न हो । अतुकान्त कविता का अर्थ भी यही समझना चाहिए, कि तुक उसके अन्त में न होकर कहीं मध्य में होता है । किसी पङ्क्ति में कितने तथा कौन-कौन से शब्द रखें जाए इस निर्णय में स्वतन्त्र होने पर भी संयोजित पङ्क्तियों को चरण स्वीकार ही किया जाना चाहिए, क्योंकि वे कविता को गति प्रदान करती है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार यह कथन नितान्त असमीचीन है कि छन्दों का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं । तात्पर्य यह है कि जहाँ मात्रात्मक तथा वर्णात्मक परिमाण में शब्दों तथा वाक्यों की व्यवस्था है, वहाँ छन्दोबद्धता है । इस दृष्टि से आधुनिक काव्यविधाएँ छन्द की नवीन सृष्टि कही जा सकती हैं । मुक्त छन्द, अतुकान्त, तथा अगीत भी व्यापक अर्थ में छन्द ही हैं ।

वेदाङ्ग के रूप में छन्द की प्रतिष्ठा भारतीय मनीषा की छन्द विषयक व्यापक विवेचना का प्रमाण है । इस दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्र में छन्दशास्त्र की रचना सर्वप्रथम हुई, यह कहा जा सकता है । हमारे मनीषियों को छन्द तथा छन्द शास्त्र के गौरवपूर्ण महत्त्व का ज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल से था । वैदिक साहित्यान्तर्गत ब्राह्मण, श्रौतसूत्र अनुक्रमणी ग्रन्थों आदि में छन्द विषयक काव्य तथा संङ्गीत के पारस्परिक सह-सम्बन्ध की सुदृढ़ता का आधार है । कविता यदि प्राणों का सङ्गीत है, तो छन्द उसका हृत्कम्पन । कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है । छन्दोबद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की भाँति अपने चतुर्दिक आकर्षण का क्षेत्र तैयार कर लेते हैं । उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एकरूपता, रूपविन्यास आ जाता है; उनमें राग की विद्युतधारा प्रवाहित होने लगती है । उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शान्ति उत्पन्न हो जाती है । यही कारण है कि अधिकांश परम्परागत विद्वान् छन्द को काव्य का प्रभावोत्पादक उपकरण स्वीकार करते हैं ।

काव्य का मुख्य उद्देश्य रसास्वाद की पराकाष्टा तक पहुंचाना है, तथा छन्द उसमें निहित रस के उद्रेक में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं । छन्दबद्ध भाषा में राग, आंकर्षण, प्रभावशान्ति, अधिक जाग्रत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती हैं । जिस प्रकार पतङ्ग डोर के लघुगुरु संङ्केतों की सहायता से ऊँची उड़ती चलीं जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इङ्गितों से प्रभावितों होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर हो जाता है । जिस प्रकार गुण, अलङ्कार आदि तत्त्व रसोद्रेक में सहायक होते हैं, उसी प्रकार उपयुक्त छन्दों का विनियोजन भी काव्य के चारुत्व को अभिवृद्ध करता है ।

छन्द विषयक शास्त्रीय मान्यता

छन्दशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता पिङ्गलाचार्य हैं । भारतीय विचारकों की मान्यता है कि पिङ्गलाचार्य ने छन्दोदधि से छन्दरूपी अमृत उसी प्रकार निकाला, जिस प्रकार समुद्र को मथ कर अमृत निकाला गया था ।[1] नाट्यशास्त्रकार भरत ने तो सम्पूर्ण वाङ्मय को ही छन्द स्वीकार किया है ।[2] छान्दोमय उपनिषद् में एक प्रसङ्ग आया है, जिसमें 'छन्दः' पद के अर्थ, प्रयोजन, सामर्थ्य तथा महत्त्व पर मौलिक प्रकाश डाला गया है ।[3] इस उपाख्यान के अनुसार मृत्यु से भय मानते हुए देवताओं ने त्रयी

---

1. क्षीराब्धेरमृतं यद्वदुद्धृतं देवदानवै : ।
   छन्दोऽब्धेः पिङ्गलाचार्यैश्छन्दो ऽमृतं तथोद्धृतम् ।।
   पि० छ०सू १/४

2. छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम् ।

3. देवा वै मृत्यो र्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंछन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयंछन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।
   छान्दोग्य उपनिषद् 1/4/2

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्या (वेद) में प्रवेश किया तथा अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया । इसी कारण छन्दों का छन्दस्त्व है।

सायण ने ऋग्वेदभाष्य में अपमृत्यु के वारण हेतु आच्छादन करने वाले को छन्द कहा है--

अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः ।

वैदिक छन्दों के सन्दर्भ में 'मन्त्र', जो छन्द रूप में कहे गए हैं, यजमान को अपमृत्यु से बचाने के उपाय हैं, सम्भवतः इसी कारण सम्पूर्ण वैदिक संहिता साहित्य ही 'छन्द' पद से रूढ हो गया, जिसका संङ्केत उपनिषद्साहित्य, पाणिनीय व्याकरण में, तथा अन्य परवर्ती साहित्य मे प्राप्त होता है। लौकिक काव्य में छन्दों की औचित्यपूर्ण योजना कलाकार तथा उसकी कृति को अपमृत्यु (अपयश तथा निन्दित समालोचना) से सुरक्षित रखती है । अतः छन्द काव्य का अमर सङ्गीत है, जिसके बिना काव्य का अमृतत्व अर्थात् चिरस्थायित्व असम्भव नहीं तो सन्दिग्ध अवश्य होता है ।

श्रुति में भी छन्दों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए इसके ज्ञान के बिना वेदाध्ययन को पापवत् माना गया है--

"योह वा अविदित्वार्षेयच्छन्दो दैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण यजयति वाऽध्यापयति वा स स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पपद्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति यातवामान्यस्यच्छन्दांसि भवन्ति ।"

छादोग्य ब्राह्मण 3/7/5

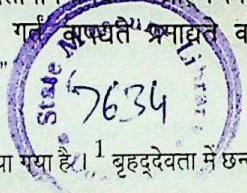

ऐतरेय ब्राह्मण में भी छन्द का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।[1] बृहद्देवता में छन्द का उल्लेख है ।[2]

यास्क ने निरुक्त में 'छन्दांसि छादनात्' कहकर छन्दों का छादनत्व स्वीकार किया है । महर्षि कात्यायन ने छन्द का स्वरूप बतलाते हुए वेद के अध्ययन-अध्यापन में उसकी अनिवार्य महत्ता को व्यक्त किया है-

छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुक्लूते जपति यजते तस्य निर्वीर्यं यातयामं भवति ।

छन्दशास्त्र की उत्पत्ति

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' इस वचन से स्पष्ट है कि वाणी ही से संसार की उत्पत्ति हुई है । वाक् का वैखरी रूप ध्वन्यात्मक या स्फोटात्मक है, और यह स्फोट जिस अनहद नाद ब्रह्म का बोध कराता है वही संङ्गीत है, और छन्द उसकी गति है । छन्द को शास्त्रीय दृष्टि से सर्वप्रथम आचार्य पिङ्गल ने अपना विवेच्य बनाया । यद्यपि ऋग्वेद और यजुर्वेद की कुछ अनुक्रमणियों में कुछ विशिष्ट

---

1. छादयन्ति हवा एनं छन्दांसि । ऐतरेय 1-6-7. सर्वैश्चछन्दोभिर्यजेदित्याहुः स वै छन्दोभिरिद्धवा देवाः स्वर्गलोक मजयंस्तथैवै तद्यजमानः सवश्छन्दोभिरिद्धवा स्वर्गलोकं जयति । ऐतरेय ब्राह्मण । 2/3/7
2. अविदित्वा ऋषि छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ।। बृहद्देवता 1/1327

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छन्दों का विवरण उपलब्ध होता है, किन्तु सर्वप्रथम सुनियोजित ढंग से छन्दों के लक्षणोदाहरणादिपरक छन्दसूत्रों की रचना पिङ्गलाचार्य ने की । अग्नि पुराण में भी अस्फुट विवेचन प्राप्त होता है । किन्तु कालान्तर में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से छन्द को पृथक् कर दिया गया । फलतः काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के साथ छन्दों का विवेचन प्रायः नहीं हुआ । इसका कारण यह हो सकता है कि छन्दों की काव्य में स्थिति तथा प्रचलित छन्दों का स्वरूप निर्विवाद था अतः विवाद और तर्क के विषयभूत लक्षणादि काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के क्रम में उनका विवेचन नहीं किया गया । सम्भव है छन्द का विवेचन करने वाले अन्यान्य ग्रन्थों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई हो किन्तु कालिदास का श्रुतबोध क्षेमेन्द्र का सुवृततिलक और केदारभट्ट का वृत्तरत्नाकर विशेष उल्लेखनीय हैं । छन्दःशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थों में लौकिक तथा वैदिक छन्दों का लक्षण, उनका विशिष्ट रसों के साथ विनियोग तथा विभिन्न छन्दों के देवता आदि का भी विवेचन है । दण्डी ने छन्द को पद्यात्मक साहित्य के रूप में अपरमुखेन व्याख्यात कर उसे 'चतुष्पदी' माना है--

'पद्यं चतुष्पदी',

काव्यादर्श 1/11

लौकिक छन्द चार चरणों के होते हैं, किन्तु कुछ वैदिक छन्द त्रिपदी भी होते हैं । गायत्री आदि छन्द इस प्रकार के छन्द हैं ।

छन्दों का वर्गीकरण

छन्दों को प्रयोग की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-- वैदिक, लौकिक तथा उभय साधारण । स्वरूप तथा परिमाणगत विस्तार की दृष्टि से दो प्रकार के छन्दों का उल्लेख प्राप्त होता है-- मात्रिक तथा वार्णिक ।

वैदिक तथा लौकिक दोनों ही साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का आधार मात्रा अथवा वर्ण हैं । पिङ्गलाचार्य ने छन्दःसूत्र में मात्रा छन्द, वर्ण वृत्त दण्डक आदि छः भेदों की चर्चा की है । वैदिक तथा लौकिक छन्दों का उन्होंने पृथक्-पृथक् विवेचन किया है । छन्दों के विस्तृत विवेचन के लिए मात्रा, वर्ण तथा गण एवं अक्षर का छन्द की दृष्टि से स्वरूप ज्ञान आवश्यक है ।

मात्रा

वर्ण के उच्चारण में व्यतीत होने वाले समय अथवा काल को मात्रा के द्वारा व्यक्त किया जाता है। जिस वर्ण के उच्चारण में एक मात्रा का काल लगता है उसे ह्रस्व तथा जिसमें दो मात्राओं का काल लगता है उसे दीर्घ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है ।

"एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।"

ह्रस्व वर्ण को लघु तथा गुरु वर्ण को दीर्घ कहा जाता है । लघु को (।) के चिन्ह से तथा गुरु को (ऽ) चिन्ह से संकेतित किया जाता है । इसके अतिरिक्त गुरु के सम्बन्ध में श्रुतबोधकार का मत है कि कतिपय अन्य परिस्थितियों में भी कोई वर्ण गुरु होता है जैसे, संयुक्त वर्ण के आदि वर्ण, अनुस्वार

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युक्त वर्ण तथा विसर्गयुक्त वर्ण को भी गुरु कहा जाता है और पाद के अन्त में समागत वर्ण को विकल्प से गुरु हो जाता है ।

"व्यञ्जनं चार्धमात्रिकं त्रिमात्रोप्लुत विज्ञेयः ।"

इत्यादि वचनों के प्रमाण से व्यञ्जन वर्ण की अर्धमात्रा और प्लुत वर्ण की तीन मात्राएँ माननी चाहिए । किन्तु आचार्य पिङ्गल के छन्दःसिद्धान्त में इन मात्राओं का परिगणन नहीं किया गया है । इस व्यवस्था का व्यवहार केवल व्याकरण शास्त्र तथा संगीतशास्त्रादि में होता है ।

वर्ण तथा गण

अक्षर छन्द की लघुतम इकाई है । शब्द का वह भाग अक्षर कहलाता है जिसका एक ही बार के प्रयत्न से स्वच्छन्दतापूर्वक उच्चारण किया जा सके । स्वर के साथ संयुक्त होने पर व्यञ्जन तो अक्षर होता ही है, तथा स्वरमात्र भी अक्षर पदाभिधेय होता है । इसके दो भेद होते हैं--

(1) ह्रस्व (2) दीर्घ ।

इन्हें ही लघु (।) वर्ण तथा दीर्घ (ऽ) वर्ण भी कहा गया है । वस्तुतः यही वर्ण छन्दःशास्त्र के मूलाधार हैं । इन्हीं के संयोग से विभिन्न गणों का निर्माण होता है ।

तीन वर्णों के समूह को गण कहते हैं । ये आठ प्रकार के होते हैं-- भगण, जगण, सगण, यगण, रगण, तगण, मगण, तथा नगण ।

गण-स्वरूप के विषय में श्रुतबोध में कहा गया है-

आदिमध्यावसानेषु भजसायान्ति गौरवम् ।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरु लाघवम् ।।[1]

अर्थात् भगण, जगण तथा सगण में क्रमशः आदि, मध्य और अन्त के वर्ण गुरु और शेष लघु होते हैं । यगण, रगण, तथा तगण में क्रमशः आदि मध्य और अन्त के वर्ण लघु तथा शेष गुरु होते हैं । मगण के समस्त वर्ण गुरु तथा नगण के सभी वर्ण लघु होते हैं । इसी को आधुनिक छन्द विवेचकों ने निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया है--

---

1. संयुक्तद्व्यंदीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम् ।
विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन ।। श्रुत बोध-२.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वरूप	मात्रा	गण
यमाता	।ऽ ऽ	यगण
मातारा	ऽ ऽ ऽ	मगण
ताराज	ऽ ऽ ।	तगण
राजभा	ऽ ।ऽ	रगण
जभान	।ऽ ।	जगण
भानस	ऽ ।।	भगण
नसल	।।।	नगण
सलगा	।।ऽ	सगण

इस सारणी को 'यमाताराज भानसलगा' से सूत्रबद्ध किया जा सकता है।

य मा ता रा ज भा न स ल गा

कतिपय विशिष्ट छन्दों के स्वरूप को अग्रलिखित सारणियों के माध्यम से समझा जा सकता है--

मुख्य छन्दविवरण

यथा ग्यारह वर्णों के 4 चरण वाले वृत्त में सर्वप्रथम इन्द्रव्रजा के 11 वर्णों में प्रत्येक त त ज ग ग तथा उपेन्द्र वज्रा में ज त ज ग ग होते हैं। उक्त दोनों छन्दों में 5 तथा 6 पर यति होती है। जब इन्द्रव्रजा तथा उपेन्द्रवज्रा को एक ही श्लोक में मिला दिया जाय वहाँ उपजातिवृत्त कहा गया है।

दोधक नामक वृत्त के प्रत्येक चरण में भ म म ग ग तथा 6 तथा 5 पर यति होती है तथा भ्रमर विलसितम् के प्रत्येक चरण में म भ न ल ग तथा 4 तथा 7 पर यति होती है। इसी भाँति रथोद्धता के प्रत्येक चरण में र न र ल ग तथा 3, 8 या 4, 7 पर यति कही गई है।

शालिनी तथा स्वागता छन्द के प्रत्येक चरण में भी क्रमशः भ त त ग ग तथा र न म ग ग होते हैं। एव क्रमशः 4, 7 तथा 3, 8 पर यति होती है।

उक्त छन्दों को निम्नसरणि के अनुसार समझा जा सकता है।

वर्ण	चरण	छन्द का नाम	वर्ण विवरण	यति
11	4	इन्द्रवज्रा	ऽऽ।ऽऽ।।ऽ।ऽ ऽ	5,6
11	4	उपेन्द्रवज्रा	।ऽ।ऽऽ।।ऽ।ऽ ऽ	5,6
11	4	दोधक	ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ ऽ	6,5
11	4	भ्रमर विलासितम्	ऽऽऽ ऽ।। ।।। ।ऽ	4,7

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

11	4	-	रथोद्धता	ऽ।ऽ ।।। ऽ।ऽ ।ऽ	3,8
11	4		शालिनी	ऽ।। ऽऽ। ऽऽ। ऽ ऽ	4,7
11	4		स्वागता	ऽ।ऽ ।।। ऽ।। ऽ ऽ	3,8

बारह वर्णों के चार चरण वाले वृत्त

इस प्रकार के छन्द में इन्द्रवंशा के चारों चरणों में क्रमशः त त ज र होता है तथा चन्द्रवर्त्म के चारों चरणों में क्रमशः र न भ स होते हैं । इसके 4 तथा 8 पर यति होती है । जलधरमाला छन्द के प्रत्येक चरण में म भ स म होते हैं तथा 4, 8 पर ही यति होती है । इसकी भाँति तोटक छन्द में स स स स तथा द्रुतविलम्बित छन्द में न भ भ र, मालती में न ज ज र होते हैं । वंशस्थ छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः ज त ज र होते हैं तथा 5, 7 पर यति होती है ।

बारह वर्णों के चार चरण वाले वृत्त

नाम		विवरण	यति
इन्द्रवंशा	त त ज र	ऽऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ	5, 7
चन्द्रवर्त्म	र न भ स	ऽ।ऽ ।।। ऽ।। ।।ऽ	4, 8
जलधर माला	म भ स म	ऽऽऽ ऽ।। ।।ऽ ऽऽऽ	4, 8
तोटक	स स स स	।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ	4, 4, 4
द्रुतविलम्बित	न भ भ र	।।। ऽ।। ऽ।। ऽ।ऽ	4, 8
मालती	न ज ज र	।।। ।ऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ	5, 7
वंशस्थ	ज त ज र	।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ	5, 7

तेरह वर्णों के चार चरण वाले वृत्तों का विवरण

वृत्त का नाम		विवरण	यति
कलहंस	स ज स स ग	।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ।।ऽ ऽ	7, 6
क्षमा	न न त त ग	।।। ।।। ऽऽ। ऽऽ। ऽ	,,
प्रहर्षिणी	म न ज र ग	ऽऽऽ ।।। ।ऽ। ऽ।ऽ ऽ	3, 10
मंजुभाषिणी	स ज स ज ग	।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ।ऽ। ऽ	6, 7
रुचिरा	ज भ स ज ग	।ऽ। ऽ।। ।।ऽ ।ऽ। ऽ	4, 9
मत्तमयूरी	म त य स ग	ऽऽऽ ऽऽ। ।ऽऽ ।।ऽ ऽ	4, 9.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चौदह वर्णों के चार चरण वाले वृत्त

अपराजिता	न न र स ल ग	।।। ।।। ऽ।ऽ ।।ऽ । ऽ	7,7
असंबाधा	म त न स ग ग	ऽऽऽ ऽऽ। ।।। ।।ऽ ऽ ऽ	5,9
पथ्या	स ज स य ल ग	।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ।ऽऽ ।ऽ	,,
प्रमदा	न ज भ ज ल ग	।।। ।ऽ। ऽ।। ।ऽ। । ऽ	6,8
प्रहरण कलिका	न न भ न ल ग	।।। ।।। ऽ।। ।।। । ऽ	7,7
बसन्ततिलका	त भ ज ज ग ग	ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ	8,6
वासन्ती	म त न म ग ग	ऽऽऽ ऽऽ। ।।। ऽऽऽ ऽऽ	4,6,4

पंद्रह वर्णों के चार चरण वाले वृत्त

नाम	वृत्त विवरण	यति
तूणक	र ज र ज र	ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।ऽ	7,8
मालिनी	न न म य य	।।। ।।। ऽऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ	8,7
लीलाखेल	म म म म म	ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ	-
शशिकला	न न न न स	।।। ।।। ।।। ।।। ।।ऽ	-

सोलह वर्णों के चार चरण वाले वृत्तों का विवरण

नाम	वृत्त विवरण	यति
चित्र	र, ज, र, ज र ग	ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।ऽ ऽ	8, 8, या 4, 4, 4, 4,
पञ्चचामर	ज र ज र ज ग	।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ	8, 8 या 4, 4, 4, 4,
वाणिनी	न ज भ ज र ग	।।। ।ऽ। ऽ।। ।ऽ। ऽ।ऽ ऽ	8,8 या 4,4,4,4,

सत्रह वर्णों के चार चरण वाले वृत्तों का विवरण

वृत्तों के नाम	वृत्त विवरण	यति
पृथ्वी	ज स ज स य ल ग	।ऽ। ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ।ऽऽ । ऽ	8,9
मन्दाक्रान्ता	म भ न त त ग ग	ऽऽऽ ऽ।। ।।। ऽऽ। ऽऽ। ऽ ऽ	4,6,7
शिखरिणी	य म न स भ ल ग	।ऽऽ ऽऽऽ ।।। ।।ऽ ऽ।। । ऽ	6, 11
हरिणी	न स म र स ल ग	।।। ।।ऽ ऽऽऽ ऽ।ऽ ।।ऽ । ऽ	6,4,7

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्नीस वर्णों के चार चरण वाले वृत्तों का विवरण

वृत्तों के नाम	विवरण	यति
शार्दूलविक्रीडित	म स ज स त त ग ऽ ऽ ऽ ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ऽ ऽ। ऽ ऽ। ऽ	12, 7.
सुमधुरा	म र भ न म न ग ऽ ऽ ऽ ऽ।ऽ ऽ।। ।।। ऽ ऽ ऽ ।।। ऽ	7, 6, 6,
मेघविस्फूर्जिता	य म न स र र ग ।ऽ ऽ ऽ ऽ ।।। ।।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ	6, 6, 7.

बीस वर्णों के चार चरण वाले वृत्तों का विवरण

वृत्तों के नाम	विवरण	यति
गीतिका	स ज ज भ र स ल ग	।।ऽ ।ऽ। ।ऽ। ऽ।। ऽ।ऽ ।।ऽ । ऽ
सुवदना	म र भ न य भ ल ग	ऽ ऽ ऽ ऽ।ऽ ऽ।। ।।। ।ऽऽ ऽ।। । ऽ

इक्कीस वर्णों के चार चरण वाले वृत्तों का विवरण

नाम	विवरण	यति
स्रग्धरा	म र भ न य य य ऽ ऽ ऽ ऽ।ऽ ऽ।। ।।। ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ	7, 7, 7.

कतिपय प्रसिद्ध छन्दों के लक्षण और उदाहरण

अनुष्टुप्-- जिस छन्द के चारों पादों में पञ्चम अक्षर लघु और षठ अक्षर गुरु हों तथा दूसरे और चौथे पाद में सप्तम वर्ण ह्रस्व हों तथा प्रथम और तृतीय पाद में सप्तम वर्ण दीर्घ हों, वह अनुष्टुप् कहलाता है।[1] यथा-

रामचन्द्र- दयादृष्ट्या नित्यं विद्याविलासभृत् ।
ब्रह्मशङ्करतां यातु भारते शिष्य मण्डली ।।

अनष्टुप आठ अक्षरों वाला छन्द है और इसके श्लोक, पद्य आदि अनेक भेद होते हैं।

इन्द्रवज्रा-- जिस पद्य के प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु होते हैं वह 'इन्द्रवज्रा' कहलाता है। इसके पादान्त में यति होती है।[2] यथा

गोष्टे गिरिं सव्यकरेण धृत्वा रुष्टेन्द्रवज्राहभिमुक्तवृष्टौ ।
यो गोकुलं गोपकुलं च सुस्थं चक्रे स नो रक्षतुचक्रपाणिः ।।

---

1. श्लोके षष्टं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।।
- श्रुतबोध - 10.

2. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।
वृत्त रत्नाकर- 3/30

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपेन्द्रवज्रा-- जिस छन्द के प्रत्येक पाद में जगण, तगण, जगण तथा दो गुरु हों वह उपेन्द्रवज्रा कहलाता है । इसके पादान्त में यति होती है ।[1] यथा-

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव । ।

उपजाति-- जिस पद्य के प्रथम तथा तृतीय चरण इन्द्रव्रजा के और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद उपेन्द्रवज्रा के हों तो वह उपजाति छन्द कहलाता है ।[2] यथा--

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्यं स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः । ।

वस्तुतः उपजाति छन्द में उक्त नियम कि 'प्रथम और तृतीय में इन्द्रवज्रा तथा द्वितीय और चतुर्थ में उपेन्द्रव्रजा के पाद होने पर ही उपजाति छन्द का निर्माण होगा, ऐसा नहीं है । इनके न्यूनाधिक रूप में किसी पाद के होने पर भी उक्त छन्द होता है । वृत्तरत्नाकर की संस्कृत टीका में इसके चुतुर्दश भेद गिनाए गयें हैं । जिनहें निम्नलिखित सारणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है--

संख्या	रूप	नाम	संख्या	रूप	नाम
1.	इ इ इ इ	इन्द्रवज्रा	9.	इ इ इ उ	बाला
2.	उ इ इ इ	कीर्ति	10.	उ इ इ उ	आर्द्रा
3.	इ उ इ इ	वाणी	11.	इ उ इ उ	भद्रा
4.	उ उ इ इ	माला	12.	उ उ इ उ	प्रेमा
5.	इ इ उ इ	शाला	13.	इ इ उ उ	रामा
6.	उ इ उ इ	हंसी	14.	उ इ उ उ	ऋद्धि
7.	इ उ उ इ	माया	15.	इ उ उ उ	सिद्धि
8.	उ उ उ इ	जाया	16.	उ उ उ उ	उपेन्द्रवज्रा

उपर्युक्त सारणी में चतुदर्श उपजाति भेदों के साथ इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा की गणना से षोडश छन्द प्रदर्शित किए गये हैं ।

1. उपेन्द्रव्रजा जतजास्ततो गौ । ।
वही- 3/31.

2. यत्र द्वयौरप्यनयोस्तु पादाभवन्ति सद्वृत्ततयाऽतिक्रान्त ।
विद्वद्भिराद्यैः परिकीर्तिता सा प्रयुज्यतामित्युपजातिरेषा । ।
- श्रुतबोध- 23

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रथोद्धता-- जिस पद्य के प्रत्येक पाद में रगण, नगण, रगण, लघु तथा गुरु होते हैं वहाँ रथोद्धता छन्द होता है । इसके पादान्त में यति होती है ।[1] उदाहणार्थ--

रम्यनर्मकलभोगतर्जनी भ्रूलतेव तरलारियोषिताम् ।
वैजयन्त्यभिमुखी रणे रणे भाति ते नरपते रथोद्धता ।।

वंशस्थ-- जिस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः जगण, तगण, जगण तथा रगण हों तो वह वंशस्थ छन्द कहा जाता है ।[2] उदाहरण यथा--

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते, सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ।।

वसन्त तिलका-- जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, दो जगण तथा दो गुरु होते हैं । वह वसन्ततिलका छन्द कहलाता है ।[3] यथा-

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः दैवं प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते न यदि सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ।।

इसके पादान्त में यति होती है ।

मालिनी-- जिस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः नगण, नगण, मगण, यगण, यगण होते हैं वह मालिनी छन्द है । इसमें यति आठ तथा सात पर होती है ।[4] उदाहरण--

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनाम अग्रण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ।।

शिखरिणी-- जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रम से यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु तथा गुरु हों वह शिखरिणी छन्द कहलाता है ।[5]

---

1. रात्नराविह रथोद्धता लगौ ।।
   वृत्त रत्नाकर- 3/39.
2. जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।
   --वृत्तरत्नाकर- 3/47.
3. उक्तं वसन्ततिलका तभजा जगौगः ।
   --वही 3/78.
4. ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।
   --वही 3/83.
5. रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ।
   --वही 3/91.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उदाहरण यथा--

यदा किञ्चिदज्ञोऽहं, द्विप इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं ममनः ।
यदा किंचित् किञ्चिद्, बुध जन सकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति, ज्वर इव मदो मे व्यपगतः । ।

पृथ्वी-- जिस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, एक लघु तथा अन्त में एक गुरु हो वह पृथ्वी छन्द कहा गया है । इसमें यति आठ तथा नौ वर्णों पर होती है।[1] यथा--

हताः समिति शत्रव-स्त्रिभुवने प्रकीर्णयश
कृतश्च गुणिनांगृहे, निरवधि महानुत्सवः ।
त्वयाकृतपरिग्रहे, क्षितिप वीरसिंहासन
नितान्तनिरवग्रहा फलवती च पृथ्वीकृता । ।

हरिणी-- जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रम प्राप्त नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, लघु तथा गुरु हों वहाँ हरिणी छन्द होता है । यति छः, चार तथा सात वर्णों पर होती है ।[2] उदाहरण-

न समरसनाः काले भोगाश्चलं धनयौवनम्,
कुरुत सुकृतं, यावन्नेयं; तनुः प्रविशीर्यते ।
किमपि कलना कालस्येयं, प्रधावति सत्वरा,
तरुणहरिणी, सन्त्रस्तेव, प्लवप्रविसारिणी । ।

मन्दाक्रान्ता-- जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण, नगण, तगण, तगण तथा दो गुरु हों वह मन्दाक्रान्ता कहलाता है । इसमें यति चार, छः तथा सात वर्णों पर होती है ।[3] उदाहरण, यथा--

नानाश्लेषप्रकरणचणा, चारुवर्णोज्ज्वलात्रो,
नाना भावा, कलितरसिकः श्रेणिकान्तान्तरङ्गा ।

---

1. जसौ जसयला वसुग्रह यतिश्चपृथ्वीगुरुः ।
-- वृत्त रत्नाकर- 3/92

2. रसयुग हयै-र्नौ म्रौ स्ली, गो यदा हरिणी तदा ।
-- वही 3/94.

3. मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौनतौ ताद् गुरु चेत् ।--
वृत्तरत्नाकर-- 3/95.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुग्धस्निग्धै र्मृदुमृदुपदैः क्रीडमाना पुरस्तात्,
मन्दाक्रान्ता, भवति कविताकामिनी कौतुकाय ।।

शार्दूलविक्रीडित-- जिस पद्य के प्रति चरण में क्रम प्राप्त मगण, सगण, जगण, सगण तगण, तगण तथा गुरु होते हैं, वहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द होता है । यति बारह तथा सात वर्णों पर होती है।[1] यथा--

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदावन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ।।

स्रग्धरा-- जिस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण होते हैं तथा सात-सात वर्णों पर यति होती हैं वह स्रग्धरा छन्द कहलाता है ।[2]

उदाहरण, यथा--

येषां श्रीमद्यशोदा-सुतपद कमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्या-प्रियगुणकथने, नानुरक्ता रसज्ञा ।
येषां श्रीकृष्णलीला,ललितगुणरसे, सादरौ नैव कर्णो
धिक् तान धिक्तान् धिगेतान् कथयति सततं, कीर्तनस्थोमृदङ्गः ।

इस प्रकार छन्द शास्त्रियों ने जो अन्य अनेक छन्दों के लक्षण एवं उदाहण प्रतिपादित किये हैं । उन सभी का यहाँ पर ग्रन्थ विस्तार के भय से निरुपण करना युक्तिसङ्गत न होने के कारण उनका नामोल्लेख मात्र किया जा रहा है । उन छन्दों में आर्या, गीति, [illegible]गीति, शशिवदना, विद्युल्लेखा, विद्युन्माला, दोधक, शालिनी, स्वागता, इन्द्रवंशा, तोटक, [illegible]म्बित, प्रियंवदा, मालती, प्रहर्षिणी, अतिरुचिरा, मञ्जुभाषिणी, चन्द्रलेखा, नर्दटक, कोकिलक, मेघविस्फूर्जिता, सुवदना, मत्तक्रीडा, दण्डक, हरिणप्लुता, पुष्पिताग्रा, उद्गता, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

रसानुकूल छन्दः प्रयोग-- आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'सुवृत्त तिलकम्' में यह प्रतिपादित किया है कि किस छन्द का प्रयोग किस रस, भाव अथवा प्रसङ्ग में उचित होता है । उनके अनुसार

---

1. सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।
--वही 3/99

2. म्रभ्नैर्यानां त्रयेण, त्रिमुनियतियुता स्रग्धराकीर्तितेयम् ।
--वही 3/103.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रन्थारम्भ में, कथा के विस्तार में तथा शमादि का उपदेश देने के लिए अनुष्टुप् छन्द और नायिकाओं के रूप वर्णन तथा षड्ऋतुओं के निरूपण में उपजाति छन्द का प्रयोग उपयुक्त होता है ।[1]

रथोद्धता चन्द्र-चन्दन आदि उद्दीपन विभावों के वर्णन में तथा षाड्गुण्य से युक्त नीति के वर्णन में वंशस्थछन्द सुशोभित होता है ।[2] वीर और रौद्र रसों के सङ्कर में वसन्त तिलका तथा सर्ग के पर्यन्त में द्रुततालवत् मालिनी का प्रयोग करना चाहिए ।[3] किसी विषय के सीमा निर्धारण काल में शिखरिणी तथा उदार, रुचिर, और औचित्य विचार में हरिणी श्रेष्ठ होती है ।[4] आक्षेप, क्रोध, तथा धिक्कार के वर्णन में पृथ्वी और पावस ऋतु प्रवास तथा व्यसन आदि के निरूपण में मन्दाक्रान्ता शोभायमान होता है ।[5] राजाओं के शौर्यादिवर्णन में शार्दूलविक्रीडित तथा उद्दाम गतिशील वायु के वर्णन में स्रग्धरा विशेष उपयुक्त होता है ।[6]

इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र का विचार है कि जिस कवि को जिस छन्द में प्रगल्भता प्राप्त हो उसका उसी छन्द में अपने सन्दर्भ का प्रदर्शन करना चाहिए ।[7] यह एक छन्द के प्रति समादरभाव प्राचीन कवियों में भी दृष्टिगोचर होता है ।[8] आधुनिक युग में काव्य रचियता वृत्त विनियोग पर विशेष ध्यान न देकर स्वतंत्र छन्द रचना पर अधिक बल देते हुए प्रतीत होते हैं ।

---

1. आरम्भे सर्गबन्धस्य कथा विस्तरसङ्ग्रहे ।
समोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ।।
शृङ्गारालम्बनोदारनायिका रूप वर्णनम् ।
वसन्तादि तदङ्गञ्च सच्छायमुपजातिभिः ।।
सुवृत्ततिलकम्-- 3/16-17,

2. रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु ।
षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ।।
--सुवृत्त तिलकम् 3/18

3. वसन्ततिलकं भाति सङ्करे वीररौद्रयोः ।
कुर्यात्सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ।।
--वही 3/19.

4. उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणीमता ।
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी वरा ।।
-- वही 3/20

5. साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वीभारक्षमा ।
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ।।
-- वही 3/21

6. शौर्यस्तेव नृपादीनां शार्दूलविक्रीडितं मतम् ।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरामता ।।
-- वही 3/22

7. वृत्ते यस्य भवेद् यस्मिन्नभ्यासेन प्रगल्भता ।
स तेनैव विशेषेण स्वसन्दर्भं प्रदर्शयेत् ।।
--वही 3/27

8. एक वृत्तादरः प्रायः पूर्वेषामपि दृश्यते ।।
--वही 3/28

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निष्कर्ष-- इस प्रकार संक्षेपतः कहा जा सकता है कि छन्द केवल काव्य के आकार तथा विस्तार के नियामक तत्त्व ही नहीं हैं, अपितु काव्य के वर्ण्य-विषय के अनुसार किया गया छन्द विन्यास रसपरिपाक की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण होता है इसकी उपयोगिता कवि तथा सहृदय दोनों की दृष्टि से है । कवि उपयुक्त छन्दों के प्रयोग द्वारा अपने भावों को अधिकाधिक समर्थ रूप में अभिव्यक्त कर सकता है तथा सहृदय काव्य के मुख्यार्थ का आनन्द प्राप्तकर सकता है। उदारणार्थ कथात्तमक वर्ण्यविषय के लिए प्रयुक्त अनुष्टुप-, आर्या आदि मात्रिक छन्द तथा इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, जाति, उपजाति, वंशस्थ आदि काव्य के चारुत्व को अनेक गुण अभिवृद्ध कर देते हैं । इसी प्रकार सम्भोग श्रृङ्गार के लिए वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित मालिनी आदि, विप्रलम्भ के लिए मन्दाक्रान्ता, कोमलभावों की अभिव्यक्ति के लिए छोटे तथा जटिल एवं कठोर भावों के लिए दीर्घ छन्द उपयोगी होते हैं । छन्दों की इस प्रयोग विधि का निर्देश लब्ध प्रति ष्ठ महाकवियों के प्रयोगों के आधार पर ही किया गया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अष्टम अध्याय

रीति-विवेचन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अष्टम अध्याय

रीति-विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र मे प्रारम्भ से ही रीति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया जाता रहा है । वामन ने सर्वप्रथम 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर रीति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है । विद्वानों ने विचार वैभिन्य के कारण रीति को अङ्गसंस्थान, मार्ग अथवा वर्त्म, तथा सङ्घटना आदि अनेक संज्ञाओं से समय-समय पर अभिहित किया है । इन समस्त संज्ञाओं में 'रीति' अभिधान सर्वाधिक प्रचलित हुआ। सर्वप्रथम भामह ने रीति के सम्बन्ध में मत अभिव्यक्त किया है--

भामह-- भामह ने रीति के दो भेद बतलाए हैं-- (1) वैदर्भी तथा (2) गौडी । भामह सम्मत प्रस्तुत विभाजन अलङ्कार तथा गुणों पर आधृत हैं, प्रदेश-विशेष पर नहीं । आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में वैदर्भ के श्रेयत्व तथा गौडीय के हीनत्व का खण्डन करते हुए लिखा है--

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायात्रानाख्येयमनेधसाम् ॥
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते ।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥
अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुति पेशलम् ॥
अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥[1]

अलङ्कारवादी आचार्य भामह ने रीतियों का आनुषङ्गिक विवेचन किया है । उन्होंने ने तत्कालीन प्रचलित इस धारणा का खण्डन करते हुए कि 'वैदर्भ मार्ग ही श्रेष्ठ है', गौडीय मार्ग अपनाने पर भी बल दिया और अलङ्कारों को प्रमुख तथा रीतियों को गौण स्थान प्रदान किया । भामह ने रीतियों की संज्ञाओं को स्वेच्छामात्र से प्रदत्त कहा है अतः कुछ लोग इन्हें 'संज्ञा मात्रवादी भी कहते हैं ।

दण्डी -- दण्डी ने रीति को गिरामार्ग संज्ञा से अभिहित किया है । उन्होंने विभिन्न कवियों की प्रतिभा की विपक्षता से विभिन्न रीतियाँ स्वीकार की हैं । अतः उनके मत में रीतियों के अनन्त भेद सम्भावित हैं ।

---

1. काव्यालङ्कार - भामह - 1/31-35

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता : ॥[1]

उन्होंने गौडी तथा वैदर्भी नामक दो रीतियों का उल्लेख इसलिए किया, क्योंकि यह अपनी विशेष विशिष्टता के कारण प्रसिद्ध हो चुकी थीं–

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥[2]

उन्होंने रीतियों को गुणों से सम्बद्ध करते हुए श्लेषादि दस गुणों को वैदर्भी के प्राण स्वीकार किया और गौड मार्ग में इनका विपर्यय बतलाया है ।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥
अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात् ।
वैदर्भमा लतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति ॥
व्युत्पन्नमिति गौडीयैर्नातिरूढमपीष्यते ।
यथानत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षाङ्गो वलक्षगुः ॥
इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालङ्कार डम्बरौ ।
अपेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः ॥
इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति ।
अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥[3]

इस प्रकार दण्डी के मत में वैदर्भ तथा गौडीय दोनों ही मार्ग श्रेष्ठ हैं । किसी एक को उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं कहा जा सकता ।

उद्भट- आचार्य उदभट ने भी अलङ्कारों के वर्णन सन्दर्भ में परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या अथवा कोलमा संज्ञक तीन वृत्तियों का उल्लेख किया है ।[4] इनका यह विवेचन गुणों पर आधृत है तथा इनके द्वारा दी गयी कोमला परुषा आदि संज्ञायें ही कुन्तक के लिए सुकुमार मार्ग आदि के लिए प्रतिपादित करने के लिए प्रेरणास्रोत हुई ।

---

1. काव्यादर्श - 1/101
2. वही - 1/40
3. वही - 1/41-42,44,46,50,60
4. शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता । परुषा नाम वृत्तिः स्याद ङ ञ ण्यैश्च संयुता ।
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्निवर्गान्त्ययोगिभिः । स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकांबुधाः ।
शेषै वर्णै र्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया । ग्राम्या वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ।।
–काव्यालंकार सारसंग्रह – प्रथम वर्ग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वामन-- रीति के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वामन ने किया है । उन्होंने गुणों के आधार पर रीतियों के तीन भेद स्वीकार किए हैं-- (1) वैदर्भी, (2) गौडी तथा (3) पाञ्चाली । इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए गुणों को रीति का प्राण माना है तथा त्रिविध रीतियों के स्वरूप को इस प्रकार विश्लेषित किया है--

रीतिरात्मा काव्यस्य ।
विशिष्टा पदरचना रीतिः । विशेषोगुणात्मा ।
सा त्रेधा-वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति । विदर्भादिषु
दृष्टत्वात्तत्समाख्या ।

समग्रगुणा वैदर्भी । ओजःकान्तिमती गौडीया । माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली । तासां पूर्वाग्राह्या गुणसाकल्यात् । न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके तद्य न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः । न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः । साऽपि समासाभावे शुद्ध वैदर्भी । तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या । तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि । साऽपि वैदर्भी, ताटस्थ्यात् ।।[1]

वामन का रीतिविवेचन मुख्यतः गुणों पर आश्रित है यद्यपि गौणरूप से उन्होंने समास का भी स्पर्श किया है ।

उन्होंने प्रादेशिकता के आधार पर रीति के भेदों का नामकरण किया है साथ में यह स्पष्ट भी कर दिया कि देश (प्रदेश) से काव्य का कोई उपकार नहीं होता है ।[2]

रुद्रट-- इनके अनुसार वैदर्भी पाञ्चाली आदि रीतियों के नाम संज्ञामात्र हैं, इनका विदर्भ आदि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार रुद्रट ने रीतियों की परम्परागत प्रादेशिकता का खण्डन किया तथा रीतियों के रसानुकूल प्रयोग का प्रतिपादन किया । वैदर्भी तथा पाञ्चाली रीतियों का प्रयोग श्रृङ्गार, करुण, भयानक और अद्‌भुत रसों के साथ तथा गौडी तथा लाटी की रचना रौद्र रस के साथ स्थापित करके[3] उन्होंने चार प्रकार की रीतियां निर्धारित की हैं-- वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी।

नाम्नां वृत्तिद्वैधा भवति समासासमासभेदेन ।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः ॥

---

1. काव्या० सू० 1/2/6-22
2. विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ।
   -- का० सू० वृ०- 1/2/10 की वृत्ति
3. वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्‌भुतयोः ।
   लाटीया गौडीये रौद्रे कुर्याद्य धौचित्य मू ।। --काव्या०, 15/20

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेतिनामतोऽभिहिताः ।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥
द्वित्रिपदा पाञ्चाली ह्राटीया पञ्च सप्त वा यावत् ।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ।
आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय ।
वृत्तेरसमासार्था वैदर्भीरीतिरेकैव ॥ [1]

अतः रुद्रट ने रीतियों का विभाजन मुख्यतः समास पर आधारित करके प्रस्तुत करते हुए समासहीन वैदर्भी, लघु समास युक्त पाञ्चाली, मध्य समास वाली लाटीया तथा दीर्घ समास वाली गौडी रीति मानी है ।

अग्नि पुराण में भी समस्त तथा असमस्त पदों को ही रीतिका आधार बनाया गया है और रीतियों की संख्या चार बतलाई गयी है ।

वाग्विद्या सम्प्रति ज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा ।
पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ॥ [2]

आनन्द वर्धन-- आनन्द वर्धन के अनुसार रीति रस की उपकारिणी है अतः वक्तौचित्य वाच्यौचित्य, विषयौचित्य तथा रसौचित्य को उन्होंने रीति का नियामक माना है [3] तथा रीति को सङ्घटना नाम से अभिहित किया । उन्होने तीन सङ्घटना प्रकार स्वीकार किये हैं--

(1) समासरहित अर्थात् वैदर्भी रीति ।

(2) मध्यम श्रेणी के समासों से अलङ्कृत अर्थात् पाञ्चाली ।

(3) दीर्घ समास युक्त अर्थात् गौडी रीति ।

आनन्दवर्धन ने सङ्घटना को गुण तथा समास पर आधृत माना है । सङ्घटना में समास की स्थिति से सम्बन्धित उनका विवेचन इस प्रकार है--

'असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥'

---

1. वही-- 2/3-6
2. (क) अग्नि पुराण-- 340/1
   (ख) वही-- 340/2-4 भी दृष्टव्य ।
3. तन्नियमेहेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ।
   विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।
   काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ।।
   रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
   रचनाविषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ।।- ध्वन्या०- 3/6,7,9

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात्, सर्वथा समासरहित, मध्यमश्रेणी के छोटे-छोटे समासों से अलङ्कृत और दीर्घ समास युक्त होने से सङ्घटना उपर्युक्त तीन प्रकार की मानी गयी है ।

मुख्यतः गुणों पर आश्रित होने के कारण सङ्घटना रसाभिव्यक्ति साधन हैं अतः संघटना का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है; इस तथ्य का विवेचन आनन्दवर्धन ने इस प्रकार किया है–

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन व्यनक्ति सा । रसानूतत्रि यमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ।।[1]

अर्थात् माधुर्यादि गुणों को आश्रय करके स्थित हुई वह सङ्घटना रसों को अभिव्यक्त करती है । रीति के आत्मत्त्व की असङ्गति प्रदर्शित करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि- अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले ध्वनि रूप काव्य तत्त्व की व्याख्या कर सकने में असमर्थ वामन आदि ने रीतियां प्रचलित कीं ।

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ।।
शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ।।[2]

इनके मत में कतिपय शब्द तत्त्व में आश्रित और दूसरी अर्थतत्त्व पर आश्रित जो कोई वृत्तियां हैं वे भी रीतियों के समान व्यापक रूप से ध्वनि के अन्तर्गत प्रकाशित हो जाती हैं ।

इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्य होते हुए भी आनन्दवर्धन ने रीति की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की।

राजशेखर– राजशेखर ने वचन-विन्यास क्रम[3] को रीति बतलाते हुए रीतियों का नामकरण प्रदेश तथा वेष के आधार पर किया । उन्होंने तीन रीतियाँ बतलायी– वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली।

सरस्वती पुत्र काव्य पुरुष का दृष्टान्त देकर राजशेखर ने रूपक के माध्यम से काव्य में रीतियों की स्थिति का आकलन प्रस्तुत करते हुए कहा कि सरस्वती पुत्र क्रुद्ध होकर घर से जिन दिशाओं में गया और जैसी वेश-भूषा धारण की उस देश एवं वहाँ की प्रचलित वेशभूषा के आधार पर वृत्ति अथवा रीतियों का नामकरण प्रचलित हुआ ।

सर्वप्रथम काव्य पुरुष प्राची दिशा में गया, जिस दिशा में अङ्ग, वङ्ग, सुहङ्ग, ब्रह्म पुण्ड्र प्रभृति जनपद हैं । वहाँ पर उसके साथ सम्बन्ध करने के लिए उमा पुत्री ने जिस वेश को स्वेच्छा से वरण किया उस वेष का इस देश की स्त्रियों ने अनुकरण किया । वह अनुकरण प्रवृत्ति औड्र मागधी नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसके बाद उमा पुत्री ने जो नृत्य, गीत, वाद्य, विलास किया उसकी संज्ञा भारती वृत्ति हुई । उस वृत्ति की मुनियों ने स्तुति की । काव्य पुरुष ने जो सम्म सबहुल आनुप्रासिक और योगवृत्ति

---

1. वही- 3/6
2. ध्वन्यालोक, 3/46.47
3. वचनविन्यासक्रमो रीतिः । काव्य मीमांसा- अध्याय-तृतीय ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परम्परागत वाक्य कहे उसका नाम गौडीया रीति हुआ । उसके बाद वह उत्तर दिशा की ओर चला वहाँ पाञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, बाह्लीक, बाह्लवेय प्रभृति जनपद हैं । वह प्रवृत्ति पाञ्चाल मध्यमा नाम से प्रसिद्ध हुई । जो उमा पुत्री ने नृत्त वाद्यादि किए उसकी संज्ञा सात्त्वती वृत्ति है। नृत्त वाद्यादि में कुछ कौटिल्य होने से उसी वृत्ति का नाम आरभटी पड़ा ।[1]

विद्या वधू के कुछ वशंवद होकर काव्य पुरुष ने जो किञ्चित् समास रहित, अल्पानुप्रासिक और औपचारिक शब्दों का प्रयोग किया उसका नाम पाञ्चाली रीति पड़ा । इसके पश्चात् वह पश्चिम दिशा में गया वहाँ अवन्ति, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अबुद, भृगुकच्छ आदि जनपद हैं । वहाँ की प्रवत्ति का नाम अवन्ति है । वह पाञ्चाल मध्यमा और दाक्षिणात्या प्रवृत्ति के मध्य की है । इसीलिए वहाँ पर सात्त्वती और कैशिकी वृत्तियां हैं । दक्षिण में जहाँ मलय, मेकल, पालमञ्जर आदि पर्वत हैं और कुन्तल, केरल आदि जिले हैंवहाँ दाक्षिणात्या प्रवृत्ति है। काव्य पुरुष ने जो समास रहित और व्यञ्जक वाक्यों का प्रयोग किया उसका नाम वैदर्भी रीति है ।[2]

अन्त में मुख्य रीति से इन्ही वृत्तियों या रीतियों को स्वीकार करते हुए राजशेखर ने कहा है-- वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली तीन ही रीतियां हैं ।[3]

---

1. अथ सर्वेप्रथमं प्राचींदिशं शिश्रियुर्यत्राङ्गवङ्गसुह्मब्रह्मपुण्ड्राद्या जनपदाः, तत्राभियुञ्जाना तमीमेयी यं वेषं यथे ष्टमसे विष्ट, स तत्रत्याभिः स्त्रीभिरन्वक्रियत । सा प्रवृ त्तिरौ ड्रमागधी ।

छयाऽपि यादृङ्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत् तद्वेषाश्च पुरुषाबभूवुः साऽपि सैव प्रवृत्तिः । यद परं नृत्त वाद्यादिकमेषां चक्रेसा भारती वृत्तिः । तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण । तथाविधा कल्पयापि तथा यदवशंवदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्ति परम्परागर्भं (वाक्यं)जगाद सा गौडीयारीतिः ।

ततश्च स पाञ्चालान्प्रत्युचचाल । यत्र पाञ्चालशूरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरवाहीकवाह्लीकावाह्लवेयादयो जनपदाः तत्राभियुञ्जाना तमीमेयीति समानं पूर्वेण । सापाञ्चालमध्यमाप्रवृत्ति : ।

यदीषन्नृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषां दर्शयां बभूव सा सात्वती वृत्तिः आविद्धगीतमत्त्वात्सा चार भटी ।

- काव्यमीमांसा-- तृतीय अध्याय,

2. तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण । तथा विधाकल्पयापि तथा यदीषद्वशंवदीकृत ईषदसमासमीषदनुप्रास मुप चारगर्भञ्च (वाक्यं) जगाद सा पाञ्चाली रीतिः ।

ततः सोऽवन्तीनू प्रत्युचचाल । यत्रावन्ती वैदिशसुराष्ट्रमालवार्बुदभृगुकच्छादयोजनपदाः । तत्राभियुञ्जाना तमीमेयीति समानं पूर्वेण । सा प्रवृत्तिरावन्ती । पाञ्चालमध्यमा दाक्षिणात्ययोरन्तरचारिणी हिसा । अतएव सात्त्वतीकैशिक्यौ तत्र वृत्ती ।

ततश्च सदक्षिणां दिशमासाद । यत्र मलय मेकल पालमंजराः
पर्वताः कुन्तलकेरलमहाराष्ट्रगाङ्गकलिङ्गादयो जनपदाः तत्राभियुञ्जाना तमीमेयीति; समानं पूर्वेण । सादाक्षिणात्या प्रवृत्तिः ।

यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषाबिर्भावयामास सा कैशिकी वृत्तिः । यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्रिर्गर्भं च (वाक्यं) जगाद सा वैदर्भी रीतिः । - काव्य मीमांसा- तृतीय अध्याय

3. वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेतिरीतयस्तिस्रः ।
आसु च साक्षात्रिवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते ।।
रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकु पुनरनेकयति ।

--काव्यमीमांसा सप्तमोऽध्याय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार राजशेखर ने रीतियों को रस और गुण के साथ सम्बद्ध न करके उनके मात्र बाह्याकार की चर्चा करते हुए समासों से उसका सम्बन्ध स्थापित किया है ।

धनञ्जय- धनञ्जय ने-दश रूपक-में रीतियों का वर्णन न करके वृत्तियों का वर्णन करते हुए लिखा है--

श्रृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिःसर्वत्र भारती ॥[1]

इस प्रकार धनञ्जय ने मुख्यतः चारवृत्तियों का उल्लेख किया है-- कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती । भारती वृत्ति के सम्बन्ध में धनञ्जय ने कहा है--

भारती संस्कृत प्रायो वाग्व्यापारोनटाश्रयः ।

वस्तुतः ये नाट्वृत्तियां हैं इनका श्रव्य काव्य से सम्बन्ध नहीं है । यद्यपि मम्मट ने भी गुणविवेचन प्रसङ्ग में रीति के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है तथापि वह काव्य वृत्तियाँ कही गयी हैं ।

कुन्तक-- आचार्य कुन्तक ने प्रदेश के आधार पर रीतिगत विभाजन का खण्डन करते हुए लिखा है-- रीतेभेदों का आधार देशभेद को स्वीकार कर लेने पर देशों के अनन्त होने से रीतियाँ भी असंख्य हो जायेंगी । काव्य रीति का किसी देश मेंप्रचलित मातुलेय-भगिनी विवाहादि प्रथाओं के समान कोई दैशिक आधार नहीं माना जा सकता है ।[2] इस प्रकार कुन्तक ने कवि स्वभाव के आधार पर वृत्तियों या रीतियों का वर्गीकरण किया है-- सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम ।

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥

सुकुमार मार्ग-- आचार्य कुन्तक के अनुसार- कवि की अम्लान नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द और लोकोत्तर अर्थ से मनोहर और अनायास स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के रचे गये परिमित सुन्दर अलङ्कारों से युक्त सुकुमार मार्ग है । पदार्थ के स्वभाव के प्राधान्य मे, बनावटी आहार्य कौशल की उपेक्षा तिरस्कार करने वाला, रसादि के रहस्य को समझने वाले सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर सुकुमार मार्ग है । शब्दों द्वारा वर्णित न किया जा सकने के कारण अज्ञात अविभावित रूप से स्थित सौन्दर्य से आह्लादित करने वाला विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न सृष्टि के अलौकिक सौन्दर्य रूप अतिशय के समान सुकुमार मार्ग है । जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है । वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ जहाँ शोभित होता है वह सुकुमार मार्ग

---

1. दशरूपकम-- 2/62
2. यस्मादेशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्यते ।
न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद्देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम् ।
--वक्रोक्ति जीवित- 1/24 की वृति

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है जिस मार्ग से होकर खिले हुए पुष्पों के वन में से भ्रमरों के समान सत्कवि जाते हैं, यह वही सुकुमार संज्ञक मार्ग है ।1

विचित्र मार्ग-- जहाँ कवि की प्रतिभा के प्रथम विलास के समान पर ही शब्द और अर्थ के भीतर कुछ अपूर्व वक्रता स्फुटित होती हुई सी प्रतीत होने लगती है वह विचित्र मार्ग है 2

जहाँ कवि एक ही अलङ्कार से सन्तुष्ट न होने से एक अलङ्कार को अलङ्कृत करने के लिए हारादि में मणियों के जड़ाव के समान दूसरा अलङ्कार जोड़ते हैं, वह विचित्र मार्ग है । रत्नों की किरणों की छटा की बहुलता से चमकते हुए आभूषणों से ढक देने से जैसे कान्ता का शरीर भूषित हो जाता है, उसी प्रकार अनेक अलङ्कारों से जहाँ काव्य को अलङ्कृत करने का प्रयत्न किया जाता है, वह विचित्र मार्ग है । इसी प्रकार जहाँ भ्राजमान अलङ्कारों के द्वारा अपनी स्वाभाविक शोभा के भीतर छिपा हुआ अलङ्कार्य अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है वह विचित्र मार्ग है । जहाँ प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित वस्तु भी उक्ति के वैचित्र्य मात्र से सौन्दर्य की चरम सीमा तक पहुँच जाती है वह भी विचित्र मार्ग है। जहाँ महाकवि की प्रतिभा के प्रयोग के प्रभाव से अन्य प्रकार की सौन्दर्य हीन वस्तु भी कवि की अपनी रुचि के अनुसार अन्य ही प्रकार की लोकोत्तर सौन्दर्य सी हो जाती है, वह विचित्र मार्ग है । जहाँ वाच्यवाचक वृत्ति से भिन्न अनिर्वचनीय वाक्यार्थ विषय की प्रतीयमानता की रचना की

---

1. अम्लानप्रति भोद्भिन्नवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ।।
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः ।
रसादिपरमार्थज्ञमनः संवाद सुन्दरः ।।
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ।।
यत् किं नापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद् भवम् ।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ।।
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गता ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदा ।।

-वक्रोक्ति जीवित- 1/25

2. प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ।।

--वही -1/34

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाती है, वह विचित्र मार्ग है । जहाँ किसी कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित और सरस अभिप्राय वाला पदार्थों का स्वभाव वर्णित है, वह विचित्र मार्ग है ।[1]

जहाँ वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही जीवन के समान प्रतीत होता है तथा जिसके अन्दर किसी अपूर्व अतिशय की अभिधा स्फुरित होती है, वह विचित्र मार्ग है । इस प्रकार सुभटों के मनोरथ जैसे खड्गधारा के मार्ग पर चलते हैं, उसी प्रकार चतुर कवि जिस मार्ग से गये हैं वह अत्यन्त दुःसञ्चर विचित्र मार्ग है ।[2]

मध्यम मार्ग— जहाँ जिस मार्ग में सहज अर्थात् स्वाभाविक और आहार्य शोभा के अतिशय से युक्त विचित्र तथा सुकुमार दोनों मार्ग परस्पर मिश्रित (संङ्कीर्ण) होकर सुशोभित होता हैं, वह मध्यम मार्ग है । जिस मार्ग में माधुर्य आदि गुण समूह मध्यम वृत्ति का अवलम्बन कर रचना के सौन्दर्यातिशय को पुष्ट करता है वह मध्यम मार्ग है । जहाँ दोनों मार्गों का सौन्दर्य स्पर्धा पूर्वक विद्यमान होता है और विभिन्न प्रकार की रुचियों वाले सहृदयों के लिए मनोहर होता है उसको मध्यम मार्ग कहते हैं । यहाँ सुन्दर वेश-भूषा के रसिक नागरिकों के समान कोई-कोई सौन्दर्यानुसन्धान के व्यसनी छाया के वैचित्र्य से मनोरञ्जक इस मार्ग में आदरवान होते हैं ।[3]

---

1. अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम् ।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ।।
रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीर माच्छाद्य भूषा यै परिकल्प्यते ।।
यत्र तद्वदलङ्कारैर्भ्राजमानै र्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते ।।
यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ।।
मत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि ।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः ।।
प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्यकस्यचित्।।
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते ।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपवृंहति ।। –वक्रोक्ति जीवित– 1/35-41

2. विचित्रो यत्र वक्रोक्ति वैचित्र्यं जीवितायते ।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयामिथा ।।
सोऽतिदुःसञ्चरो ये न विदग्धत्वयोगताः ।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः ।।- -वक्रोक्ति जीवित- 1/42-43

3. वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र सङ्कीर्णतां गते ।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ।।
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ।।
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचि मनोहरः । स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः ।
अत्रारोचकिनः के चिच्छाया वैचित्र्यरञ्जके ।
विदग्ध ने पथ्यविधौ भुजङ्गाइव सादराः ।।– वही -1/49-52

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भोजदेव-- आचार्य भोज ने रीति की उत्पत्ति रीङ्धातु से मानी है तथा उसे मार्ग का पर्याय सिद्ध किया है और रीतिको छः वर्गों में विभाजित किया है- (1) वैदर्भी (2) पाञ्चली (3) गौडी (4) लाटी (5) आवन्तिका (6) मागधी ।[1]

भोजदेव ने रीतियों का नामकरण तथा स्वरूप निर्धारण वामन की भांति गुणों तथा रुद्रट के समान समास के आधार पर किया है ।[2]

मम्मट-- आचार्य मम्मट ने तीन वृत्तियाँ मानी हैं-- (1) उपनागरिका (2) परुषा तथा (3) कोला। ये तीनों वृत्तियाँ क्रमशः वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली के आधार पर वर्णित हैं । मम्मट ने इन रीतियों को समास तथा गुणों पर आधृत माना है । यथा माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त उपनागरिका वृत्ति कहलाती है । ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त परुषा वृत्ति होती है शेषवर्णों से युक्त तृतीय वृत्ति को मला है । इसी कोमला वृत्ति को कतिपय लोग ग्राम्या वृत्ति भी मानते हैं ।--

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

---

1. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः ।
रीङ्गताविितिधातोः साव्युत्पत्या रीतिरुच्यते ।।
वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा ।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ।।
--सरस्वकी कण्ठा भरण -2/27-28

2. तत्रासमासनिःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।
समस्तपञ्चषपदामोजःकान्ति विवर्जिताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ।।
समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ।।
अन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योर्यावतिष्टते ।।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः ।।
समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते ।
पूर्वरीते र्निर्वाहे खण्डरीतिस्तुमागधी ।।
या विकासेऽथ विक्षेपे संकोचे विस्तरे तथा ।
चेतसो वर्तयित्री स्यात्सावृत्तिः सापिषड्विधा ।।
कैशिक्यारभटी चैव भारती सात्वती परा ।
मध्यमारभटी चैव तथा मध्यमकैशिकी ।
सुकुमारार्थसन्दर्भा कैशकातासु कथ्यते ।।
या तु प्रौढार्थसन्दर्भा वृत्तिरारभटी सा ।
कोमलसौधसन्दर्भा त्वर्थे मध्यम कैशिकी ।
प्रौढार्था कोमले बन्धे मध्यमारभटीष्यते ।।
--सरस्वती कण्ठाभरण- 29-38

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा ।

--कोमला परैः ।।

केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयोमताः ।

एतास्तिस्त्रांवृत्तयः वामनादीनांमते वैदर्भी गौडी पाञ्चाल्याख्या रीतियो मताः [1]

मम्मट से पूर्व उद्भट ने भी इसी परम्परा में रीति विवेचन प्रस्तुत किया था ।

वाग्भट-- आचार्य वाग्भट ने रीतियों को तीन वर्गों में विभक्त किया है--

द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वायावत् । शब्दाः समासवंतो भवति यथाशक्तिगौडीया।[2]

(1) गौडी (2) पाञ्चाली तथा (3) लाटी ।

जहाँ दो तीन पद समस्त हों वह पाञ्चाली रीति है, और जहाँ पांच-सात तक समस्त पद हों वह लाटीया रीति है तथा जिसमें यथाशक्ति बहुत अधिक समस्त पद हों तो उसे गौडीया रीति कहते हैं । पदों की सङ्घटना विशेष का नाम रीति है । रीतियाँ देशों के अनुसार अनेक होती हैं जैसे-मागधी लाटी, पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी आदि । किन्तु इनके दो भेद ही प्रमुख हैं-- वैदर्भी तथा गौडी ।--

द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सांतरे ।

एका भूयः समासा स्यादसमस्त पदा पर ।।[3]

अर्थात् गौडी दीर्घ समासों वाली तथा वैदर्भी असमस्तपदा होती है ।

वाग्भट ने भी रीतियों का नामकरण प्रदेश के आधार पर तथा उनका स्वरूप निर्धारण रुद्रट की पद्धति पर किया है ।

जयदेव-- चन्द्रालोक में आचार्य जयदेव ने रीतियों की रसानुकूलता पर बल देते हुए उनको चार वर्गों में विभाजित किया है-- (1) पाञ्चाली (2) लाटी (3) गौडी तथा (4) वैदर्भी--

आतुर्यमासप्तमं च यथेष्टरष्टमादिभिः ।
समासः स्यात्पदैर्न स्यात्समासः सर्वथापि च ।।
पाञ्चालिकी च लाटीया गौडीया च यथारसम् ।
वैदर्भी च यथासङ्ख्यं चतस्रो रीतयः स्मृताः ।।
मधुरायां समाक्रान्ता वर्गस्थाः पञ्चमैर्निजैः ।
लकारश्च लसंयुक्तो ह्रस्वव्यवहितौ रणौ ।।
रेफाक्रान्ता वर्ग्ययणाष्टवर्गात्पञ्चमादृते ।
कपाक्रान्तस्तवर्गः स्यात् प्रौढायां चकमूर्धता ।।

---

1. काव्यप्रकाश-- 9/80-81
2. वाग्भटालंकार- चतुर्थ परिच्छेद
3. वही- चतुर्थ परिच्छेद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वैरुर्ध्वैः सकास्य सर्वैः रेफस्य सर्वथा ।
रहोर्द्वेधा तु संयोगः परुषायां शषौ स्वतः ।।
लकारोऽन्यैरसंयुक्तौ लघवो धमधाः रसौ ।
ललितायां तथा शेषा भद्रायामिति वृत्तयः ।।
अङ्गभङ्गोल्लसल्लीला तरुर्णो स्मरतोरणम् ।
तर्ककर्कशपूर्णोक्तिप्राप्तोत्कटधियां वृथा ।।[1]

आर्थात् वृत्तियां चार मानी गयी हैं-- दो तीन-चार पदों तक के समास करने पर पाञ्चाली, पांचछःसात पदों तक के समास में लाटीया, आठ या इससे अधिक पदों के समास में गौडीया और सर्वथा असमस्त पदों में वैदर्भी रीति मानी जाती है ।

पद योजना को रीतिकहा गया है । रीयतेऽनयेतिरीतिः जिसमें गुणों का विशेषता जानी जाती है यह रीति पद या यौगिक अर्थ है । वृत्तियों का स्वरूप विलास विन्यास रूप होने से कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती इन नाट्य वृत्तियोंका ही नामान्तर मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा वृत्तियाँ हैं । वर्ग के चार अक्षर क ख गघ अपने पांचवें सानुनासिक ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, वर्णों से संयुक्त हो और लकार का लकार के साथ संयोग हो तथा रेफ, णकार और ह्रस्वाक्षरों से मुक्त हो तो मधुरा वृत्ति होती है ।

प्रौढ़ा वृत्ति में ट्, ठ्, ड, ढ् तथा वर्ग के पंचम अक्षर को छोड़कर वर्ग के क, ख, ग, घ आदि वर्ण तथा यकार, णकार, रेफ से युक्त होते हैं और टवर्ग ककार तथा पकार से ही संयुक्त होताहै तथा ककार के ऊपर तकार का संयोग होता है । सकार के ऊपर ककारादि सब अक्षरों का संयोग हो, रकार का ऊपर और नीचे दोनों तरह से सब वर्णों के साथ योग हो तथा रेफ और हकार का ऊपर और नीचे द्विविध विधि से सम्बन्ध हो तथा शकार और षकार असंयुक्त हो तब परुषा वृत्ति होती है।

उक्त वृत्तियों के अक्षरों से अवशिष्ट अक्षर संयुक्त वा असंयुक्त रूप से भद्रा वृत्ति में रहते हैं ।

विद्यानाथ-- विद्यानाथ ने गुणयुक्त पद सङ्घटना को रीति संज्ञा से अभिहित किया है । उनके अभिमत में जिस प्रकार स्वभाव आत्मा के उत्कर्ष में वृद्धि करता है उसी प्रकार रीति रसोत्कर्ष को वार्द्धक्य प्रदान करती है । इन्होंने वामन की सरणि का अनुसरण करने हुए तीनों रीतियों का स्वरूप निरूपण किया है ।[2]

---

1. चन्द्रालोक-- 6/21-27
2. (क) रीतिर्नाम गुणश्लिष्टपदसङ्घटना मता । प्रतापरुद्र०-काव्य प्रकरण
(ख) आत्मोत्कर्षावहास्तत्र स्वभावा इवरीतयः ।। वही- 3
(ग) बन्धपारुष्यरहिता शब्दकाठिन्यवर्जिता ।
नातिदीर्घ समासा च वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।
ओजःकान्तिगुणोपेता गौडीया रीतिरिष्यते ।
पाञ्चाली वैदर्भी गौडी रित्युभयात्मिका ।।
--वही- 27,31

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विश्वनाथ-- आचार्य विश्वनाथ ने रीति को रस भावादि की उपकारिका माना है जो कि काव्यशरीर के अङ्गसंस्थान के सदृश होती है। इन्होंने रीति के चार भेद किए हैं-- (1) वैदर्भी (2) गौडी (3) पाञ्चाली (4) लाटीया।

पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसदीनां- सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भी चाथ गौडी चपाञ्चाली लाटिका तथा । सारीतिः । तत्र
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचनालितात्मिका ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।
ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः । समासबहुलागौडी
वर्णै शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिकामता ॥
लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।
क्वचित्तु वक्राद्यौचित्यदन्यथा रचनादयः ॥[1]

इस प्रकार रीति एक वाह्य तत्त्व है जोकि समास और गुण के अश्रित होती है।

शारदातनय-- शारदातनय ने राजशेखर के समान वचन विन्ययासक्रम को रीति कहा है तथा पूर्व प्रसिद्ध चार भेदों के साथ ही सौराष्ट्री और द्राविड़ी को भी परिगणित किया, तथा देश-विशेष के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित किया है। उनके अभिमत में प्रतिपुरुष के प्रतिवचन भेदानुसार आनन्त्य दिद्यमान है, किन्तु संक्षेपतः कवियों द्वारा इनके चार भेद ही प्रतिपादित किए गये हैं। शारदातन य को प्राचीन मनीषियों के 105 रीति भेदों का भी ज्ञान था, परन्तु ग्रन्थ विस्तार के भय से उन्होंने इनका विवेचन नहीं किया।

बुद्धयारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते ।
रीतिर्वर्चनविन्यासक्रमः साऽपिचतुर्विधा ॥
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः ।
सौराष्ट्री द्राविड़ी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम् ॥
तत्तद्देशीयरचना रीतिस्तद्देशनामभाक् ।
समाससौकुमार्यादितारतम्यात्क्वचित्क्वचित् ॥
उपचारविशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः ।
तथा सौराष्ट्रिकाभेदाद्द्राविडीभेदतोऽपि च ॥

1. सा० द० 9/1-5

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रोति ।
आनन्त्यात्संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा ॥
ताषु पञ्चोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः ।
ग्रन्थविस्तार भीतेन मया ताभ्यो विरम्यते ॥
तस्माच्यतुर्धा बोद्धव्या रीतिभेदप्रकल्पना ॥[1]

अमृतानन्द योगीन्द्र-- अमृतानन्द योगीन्द्र ने काव्य में रीति के आत्मत्व को पुनर्प्रतिष्ठित करते हुए 'रीतिरात्मा काव्यस्यय कथ्यते सा चतुर्विधा' [2] कहा और वामन के अनुसार शलेषादि गुणों को रुद्रट के अनुसार समस्त पदों को, मम्मट के अनुसार माधुर्य व्यञ्जक वर्णों को आधार बनाकर रीतियों का स्वरूप निर्धारण किया ।[3]

शिङ्ग भूपाल-- शिङ्गभूपाल ने रीति को बुद्धयारम्भ स्वीकार करते हुए पद विन्यास भङ्गी रूप में ग्रहण किया है और इसके कोमला, कठिना तथा मिश्र भेद प्रतिपादित किए हैं ।[4]

इन्होने रसार्णवसुधाकर में प्रतिपादित इन त्रिविध रीतियों के विभाजन का आधार समास तथा गुण दोनों को स्वीकार किया है । कोमला को वैदर्भी, कठिना को गौडी तथा मिश्रा को पाञ्चाली नाम से अभिहित किया गया है ।[5]

---

1. भाव प्रकाशनम्-- प्रथमोऽधिकारः
2. अलङ्कार संग्रह-- 5/1
3. (क) एतैः समग्रावैदर्भी वर्ण्यते दशभिर्गुणैः ।
असमस्ता द्वित्रिपदसमस्ता वा मनोहरा ।।
वर्गद्वितीयप्रचुरा स्वल्पघोषाक्षरा यथा ।।– वही - 5/8-9
(ख) समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिसमन्विताम् ।
महाप्राणाक्षरवती गौडीमाहुर्बुधा यथा ।।-- वही - 5/10
(ग) माधुर्यसौकुमार्योजःकान्तिभिः सहिता गुणैः ।
समस्तपञ्चषपदा पाञ्चाली कीर्त्यते यथा ।।-- वही - 5/11.
(घ)समस्तरीतिसम्मिश्रा लाटी मृदुसमासिनी ।
संयुक्त्र वर्णभूयिण्ठा स्वल्पयोषाक्षरायथा ।। वही-- - 5/12
4. बुद्ध यारम्भस्तथा प्रोक्तत्र रीति-वृत्ति-प्रवृत्तयः ।
रीतिः स्यात् पद-विन्यासभङ्गीसा तु त्रिधा मता ।
कोमला कठिना मिश्रा चेति स्यात् ।।--रसार्णवसुधाकर-- 1/227-28
5. (क) तत्र कोमला । द्वितीय तुर्यवर्णैर्या स्वल्पैर्वर्गेषु निर्मिता ।।
समास रहिता स्वल्पैः समासैर्वाविभूषिता ।
विदर्भजनहृद्यत्वात् सा वैदर्भीति कथ्यते ।। - रसा- सु० 1/229-30
(ख) अतिदीर्घसमासयुता बहुलैर्वर्णैर्युतामहाप्राणैः ।
कठिना सा गौडी येत्युक्त्र तद्देशःबुधमनोज्ञत्वात् ।। वही 1/239
(ग) यत्रोभय-गुण-ग्राम सन्निवेशस्तुलाधृतः ।
सा मिश्रा सैव पाञ्चालीत्युयुक्त्र तद्देशजाप्रिया ।। --वही -1/240

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केशवमिश्र-- इन्होंने तीन प्रकार की रीतियाँ मानी हैं-- वैदर्भी, गौडी तथा मागधी तथा इनका विवेचन समास के आधार पर किया है--

गौडी समासभूयस्त्वाद्वैदर्भी च तदल्पतः ।
अनयोः सङ्करो यस्तु मागधी साऽतिविस्तरा ।।
गौडीयैः प्रथमा मध्या वैदर्भैर्मैथिलैस्तथा ।
अन्यैस्तु चरमा रीतिः स्वभावादेव सेव्यते ।।[1]

पण्डितराजजगन्नाथ-- पण्डित राज जगन्नाथ के रीतिविषयक संक्षिप्त विचार से विदित होता है कि रीतिविचार में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया । उन्होंने भी मम्मट की भाँति रीति तथा वृत्ति में अभेद स्वीकार किया । पण्डितराज केवल वैदर्भी रीति का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बतलाते हैं कि उस रचना विशेष को वैदर्भी कहा जाता है जो सामान्य तथा विशेष दोषों से रहित हो, माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त हो जिसमें इसका पूर्णतः परिपाक दृष्टिगत हो । साथ ही उन्होंने इस रीति के निर्माण में कवियों को सतर्क रहने का निर्देश भी दिया है।[2]

अस्तु, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रीतियों की संख्या के सम्बन्ध में मतभिन्नता प्राप्त होती है । भामह दण्डी के वैदर्भ और गौडीय मार्ग के मध्य वामन प्रतिपादित पाञ्चाली रीति ने स्थान ग्रहण किया। तदन्तर आचाय रुद्रट ने उनके मध्य लाटीया संज्ञक एक नवीन रीति को स्थान प्रदान किया। इस प्रकार चार रीतियों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ । आनन्द वर्धन, कुन्तक, मम्मट आदि आचार्यों को लाटीया अभीष्ट नहीं थी अतः इन्होंने रीतित्रय को ही मान्यता प्रदान की । भोजराज ने 'षोढारीतिर्निगद्यते' कहकर प्रसिद्ध रीतित्रय में लाटीया, मागधी तथा आवन्तिका को समावेशित किया । शारदातनय ने इनकी संख्या 105 तक बतलाई है । विश्वनाथ ने लाटी को सम्मिलितकर चार प्रकार की रीतियों को ही स्वीकार किया, किन्तु विद्वत् समाज में मुख्यतः रीतित्रयवाद (वैदर्भी, गौडी, तथा पाञ्चाली) को ही मान्यता प्राप्त हुई । इनमें वैदर्भी तथा गौडी मुख्यरीतियां हैं और पाञ्चाली इनकी मध्यवर्तिनी रीति के रूप में प्रसिद्ध हुई ।

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वामन से पूर्व 'रीति' शब्द काव्य मार्ग के अर्थ में प्रचलित था और परवर्तीकाल में भी उसी अर्थ का व्यवहार होता रहा, किन्तु रीति का आधार तत्त्व

---

1. अलङ्कार शेखर-- प्रथम रत्न द्वितीयमरीचि
2. (क) एभिर्विशेष-विषयैः सामान्यैरपि च दूषणैरहिता ।
माधुर्यभारभङ्गुरसुन्दरपदवर्णविन्यासा ।।
व्युत्पत्तिमुद्रिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुता ।
तां बिबुधा वैदर्भी वदन्ति वृत्तिं ग्रहीतपरिपाकाम् ।।
--रसगङ्गाधर प्रथम आनन
(ख) अस्याश्चरीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम्
अन्यथातु परिपाकभङ्गः स्यात् ।। वही-प्रथम आनन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय के प्रवाह में परिवर्तित होता गया । काव्य का जीवित भूत होने से आत्मास्थानीय वामन प्रतिपादित रीति कालान्तर में अवयव संस्थान के रूप मे काव्यात्मा रस की उपकारिका बन गई । आरम्भ में भौगोलिक सीमा में आबद्ध होने के पश्चात् कवि स्वभाव से अभिव्यक्त होने वाली यह रीति क्षेत्रीय सीमा को लांघकर काव्य में विषयानुकूल वर्णन के आधार रूप में प्रचलित हुई है ।

आचार्य वामन ने सर्वप्रथम रीति को काव्य की आत्मा माना था, किन्तु ध्वनिकाल के प्रारम्भिक समय से ही काव्यात्मा के रूप में उसकी मान्यता समाप्त होने लगी । यद्यपि कालान्तर में अलङ्कार संग्रह के प्रणेता अमृतानन्दयोगी ने एक बार पुनः रीति को काव्य की आत्मा उद्घोषित कर देहात्मवाद चलाने का निष्फल प्रयास किया, परन्तु आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के द्वारा काव्यात्म रूप ध्वनि तत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने के पश्चात् रीति का काव्यात्म सिद्धान्त पूर्णतः धराशायी हो गया । यद्यपि वामन के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों (अमृतानन्द को छोड़कर) ने रीति को काव्यात्मा के रूप में महत्त्व प्रदान नहीं किया तथापि कवि समाज में रीति के महत्त्व की अत्यधिक सराहना की गयी । उल्लेखनीय तथ्य यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में निरुपित रीति का सम्बन्ध विशेषतया कवि स्वभाव से सम्बद्ध नहीं हो सका । दण्डी, कुन्तक आदि कतिपय आचार्यों ने कवि स्वभाव को रीति के आधार रूप में स्पर्श अवश्य किया है, किन्तु वे भी व्यावहारिक रूप में कवि स्वभाव का सम्बन्ध प्रदर्शित करने में असमर्थ रहे । अतः भारतीय रीति का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व अथवा स्वभाव की अपेक्षा अधिकतर पद-रचना से ही रहा है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवम अध्याय

काव्य तथा अन्य ललितकलायें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवम अध्याय

काव्य तथा अन्य ललितकलायें

भरत ने "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विधा न सा कला" कहकर नाट्य की विस्तृत परिधि का रेखाङ्कन करते हुए सम्पूर्ण कलाओं को उसमें अन्तर्भूत करके उसके विस्तृत महत्त्व का प्रतिपादन किया है । भामह भी काव्य के क्षेत्र में भरत के उपर्युक्त विचारों को ही प्रतिध्वनित करते हुए प्रतीत होते हैं--

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यत्र काव्याङ्गमहोभारः महान् कवेः ॥[1]

अर्थात् ऐसा कोई शब्द, अर्थ, न्याय और कला नहीं है जो कि काव्य का अङ्ग न हो । कविका कार्य बहुत गुरु होता है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य किंवा काव्य तथा कला दोनों पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं । कला काव्य की अपेक्षा गौण होती है वह काव्य का अङ्ग बनकर उसकी सहायिका अथवा उपस्कारिका होती है ।

दण्डी के विचार में कलाओं का प्रयोजन काम तथा अर्थ की प्राप्ति कराना है । "नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ।"जबकि काव्य चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन है । भर्तृहरि भी "साहित्यसङ्गीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।" के द्वारा उपर्युक्त मत की पुष्टि करते हैं कि साहित्य तथा कला दोनों में पार्थक्य है तथा साहित्य की अपेक्षा कला अवर स्तर की है ।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि यद्यपि चतुःषष्टि कलाओं में काव्य भी एककला के रूप में मान्य है तथापि वह श्रेष्ठतम कला है और उसकी इस श्रेष्ठता को द्योतित करने के लिए काव्य कला के लिए केवल 'काव्य' शब्द का अभिधान होता है काव्येतर को कला शब्द से अभिहित किया जाता रहा है । अभिनव गुप्त ने कलाओं को "कला गीतवाद्यादिका" कहकर गायन, वादनादि के लिए कला शब्द का प्रयोग किया है जो कि ललित कलाओं (Fine Arts) का द्योतक है ।

कला की व्युत्पत्ति

कला शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से हो सकती है । यथा- 'कल् + अच् + टाप् + कला'- इस व्युत्पत्ति के आधार पर कला शब्द का अर्थ है- किसी वस्तु का लघुतम अंश, चन्द्रमण्डल का षोडश अंश राशि के तीसवें भाग का सातवां अंश । 'कल्' धातु का एक अर्थ ध्वनि करना भी होता है जिसका अभिप्राय अव्यक्त से व्यक्त की ओर गमन है । इससे यह ध्वनित होता है कि कवि अथवा कलाकार अपने अव्यक्त भावों को कतिपय साधनों के द्वारा व्यक्त करता है ।

---

1. काव्यालङ्कार, 5/4

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार 'कला' शब्द 'कवि' तथा 'लास्य' इन दोनों पदो के प्रथमाक्षरो के संयोग से निर्मित हुआ है । इससे स्पष्ट होता है कि कवि का लास्य ही कला है । लास्य शब्द का अर्थ है 'नृत्य' । काव्य में कवि के अव्यक्त भाव शब्दो के माध्यम से आनन्दातिरेक के कारण नृत्य करने लगते हैं । कविशब्द का अर्थ है 'चतुर' । अतः कवि कल्पना के मूर्त्त लास्य को कला कहा जा सकता है । लसु धातु से 'लास्य' शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है शोभित होना आकर्षक चित्ताकर्षक । काव्य कला के प्रसङ्ग में लास्य का अर्थ कवि का लालित्य शोभन और मधुर अभिव्यञ्जन है ।

कला की तृतीय व्युत्पत्ति है 'क + ला' = कला कं = कामदेव, सौन्दर्य, प्रसन्नता, हर्ष , आनन्द।

ला = देना ।

अर्थात् 'कं लाति इति कला' इस व्युत्पत्ति के अनुसार-- कला वह है जो सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के द्वारा सुख प्रदान करे ।

इस प्रकार कला की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'कला अभिव्यक्ति की विधा है' कला वह कौशल है जिससे कोई कार्य सम्पन्न हो । भगवत्गीता में योगः कर्मसु कौशलम्' कहकर इसी तथ्य की ओर सङ्केत किया गया है । वस्तुतः सम्पादन की विशिष्टता प्राणी के प्रत्येक कार्य में परिलक्षित होती है ।

'कला की प्रक्रिया अपने हृदय में अद्भूत भावनाओं की अनुभूति को क्रिया रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द आदि के माध्यम से दूसरे व्यक्ति के हृदय तक पहुँचाना है ।'

कला प्रकृति के स्वरूप तथा मानव भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए प्रकृति और मानव मन के अन्तर्जगत में प्रवेश कर उसके (प्रकृति) प्रच्छन्न सौन्दर्य एवं मानव भावनाओं की सौन्दर्यानुभूति कराती है ।

इस प्रकार अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है ।

कलाओं की संख्या

भारतीय साहित्य शास्त्र में परम्परा प्राप्त 64 कलाओं की सङ्ख्या सर्वाधिक मान्य रही है जो कि इस प्रकार हैं– (1) गीत (2) वाद्य (3) नृत्य (4) नाट्य (5) चित्रांकन (6)विशेषकच्छेद्य- पक्तियों को विविध रूपों में छेदित कर अलङ्करण-निर्माण । (7) पूजोपहार रचना (8) पुष्प शैय्या (9) अङ्गराग (10) मणिभूमिकाकर्म-भूमि पर किया गया मणि जड़ितकर्म । (11) शैय्या रचना (12) जल वाद्य (13) उदकघात-अन्य व्यक्तियों पर जल प्रक्षेपण (14) चित्र योग-सिद्धियों हेतु उपचार निर्देश । (15) माल्यग्रथन (16) केश प्रसाधन (17) नैपथ्य प्रयोग-रूप रचना (18) कर्ण पत्र निर्माण[1] (19) गन्ध निर्माण (20) अलङ्कार रचना (21) ऐन्द्रजाल (22) इच्छावेष (23) हस्त

---

1. गीतं वाद्यं नृत्यं नाट्यम् आलेख्यं विशेषकच्छेद्यं तण्डुलकुसुमवलिविकरण पुष्पास्तरणं दशनवसनाङ्गरागः मणिभूमिका कर्म शयनरचनं उदकवाद्यं उदकघातः चित्राद्ययोगाः माल्यग्रथनविकल्पाः शेखरकापीडयोजनं नेपथ्य प्रयोगाः कर्णपत्रभङ्ग--

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निपुणता (24) पेय रचना (25) पानक आदि का निर्माण (26) सूची कर्म (27) सूत्र क्रीड़ा (28) प्रहेलिका (29) प्रतिमाला-ऐसे छन्द का पाठ जिसमें प्रथम छन्द का अन्तिम अक्षर द्वितीय छन्द का प्रथमाक्षर है । (30) दुर्वाचक योग- दुष्कर तथा दुर्बोध्य छन्द रचना (31) पुस्तक वाचन (32) नाटकाख्यायिकादर्शन (33) काव्यसमस्यापूर्ति (34) वेत्रासन निर्माण (35) तक्षकर्म अथवा तकुकर्म-चक्रयन्त्र कला (36) लक्षण कला (37) वास्तुविद्या-भवन निर्माण (28) रत्न धातु परीक्षा (39) धातु विद्या (40) मणि राग तथा आकर ज्ञान-मणिरञ्जनं और खान सम्बन्धी कुशलता । (41) वृक्ष चिकित्सा (42) पशुपक्षियों की युद्धकला (43) पशु-पक्षी ध्वनि अनुकरण (44) उत्सादन-पैरों से मर्दन (45) केशकर्म (46) सङ्केतलिपि अर्थात् मन की बात कहना (47) म्लेच्छकाव्य ज्ञान (48) देशभाषा ज्ञान देश भाषाज्ञान (49) शकुन विचार (50) यन्त्र संचालन (51) धारण मात्रिका-स्मरण करना (52) सामूहिक पाठ (53) मानसी काव्यक्रिया (54) क्रिया कल्प-काव्य लक्षण तथा अलङ्कार (55) छल प्रयोग (56) कोष ज्ञान (57) छन्दज्ञान (58) वस्त्रगोपन-वस्त्र धारण (59) द्यूत क्रीड़ा (60) दूराकर्षण (61) बालक्रीड़ा (62) मंत्र विद्या (63) विजय विद्या (64) वैतालिकी विद्या ।[1]

उपर्युक्त चतुःषष्टि कलाओं में आधुनिक ललित कलाएँ समाहित हैं । कतिपय अन्य ग्रन्थों में कलाओं की संख्या चौंसठ से अधिक बतलाई गयी है । 'प्रबन्ध कोष' में 72 कलाओं का उल्लेख मिलता है । ललित विस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में कलाओं की संख्या 86 तक पहुँच गयी है । क्षेमेन्द्र ने शताधिककलाओं के नामों की गणना की है किन्तु सर्वाधिक मान्य मत उपरिवर्णित 64 कलाओं का ही है ।

कला विभाजन

कला को अनेक रूपों मे वर्गीकृत किया गया है । प्रथम वर्ग में भरत आदि आचार्यों के मत हैं जिनसे कला के दो भेद परिलक्षित होते हैं-- मुख्य तथा गौण । इन्होंने नाट्य अथवा काव्य प्रमुख कला तथा अन्य को गौण रूप में मान्यता प्रदान की । इसके अतिरिक्त कला के अन्य अनेक वर्गीकरण इस प्रकार हैं--

(क) (1) प्राकृतिक कला (2) अभ्यासगत कला ।

(ख) (1) सामान्य कलाएँ तथा (2) सांस्कृतिक कलायें ।

(ग) (1) सफल तथा असफल कला (2) पूर्ण तथा अपूर्ण कला ।

(घ) (1) अनुभूति के आधार पर विभाजन (2) रूप के आधार पर ।

---

1. गन्धयुक्तिः भूषणयोजनम् ऐन्द्रजालाः कौचुमाराश्चयोगाः हस्तलाघवम् विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया पानकरसरागासवयोजनं सूचीवानकर्माणि सूत्रक्रीडा प्रहेलिका प्रतिमाला दुर्वाचकयोगाः पुस्तकवाचनं नाटकारव्यायिकादर्शनं काव्यसमस्यापूरणम् पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः तक्षकर्माणि तक्षणं वास्तुविद्या रूप्यरत्न परीक्षा धातुविधा मणिरागाकरज्ञानं वृक्षायुर्वेदयोगाः मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि शुकसारिका प्रलापनं उत्सादनं केशमार्जनकौशलं अक्षरमष्टिकाकथनं म्लेच्छितकविकल्पाः देशभाषाज्ञानं पुष्पशकटिका निमित्तज्ञानं यन्त्रमातृका धारणमातृका सम्पाठ्यम मानसीकाव्यक्रिया क्रियाकल्पाः छलितकयोगाः अभिधानकोषछन्दोज्ञानम् वस्त्रगोपनानि द्यूतविशेषाः आकर्षक्रीडा बाललक्रीडनकानि वैनायाकीनां वैजयिकीनां वैतालिकीनां च विद्यानां ज्ञानम् इति चतुष्षष्टिरङ्गविद्याकामसूत्रस्यावयविन्यः ।।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ङ) (1) प्राचीन कलाएं तथा (2) आधुनिक कलाएँ ।

(च) (1) धार्मिक तथा (2) लौकिक कलाएं ।

(छ) (1) उपयोगी कला (2) ललित कला ।

उपर्युक्त विविध वर्गीकरणों में अन्तिम वर्गीकरण सर्वाधिक विख्यात तथा सर्वमान्य रहा है ।

उपयोगी कला का जन्म आवश्यकता के कारण होता है जो मानव-बुद्धि की उत्पत्ति का हेतु है । जबकि ललित कलाओं का उद्भव विलास तथा वैभव के कारणं होता है उसकी जन्मदयिनी प्रवृत्ति प्रतिभा कही जा सकती है । इस प्रकार उपयोगी कलायें जीवन केलिए सुविधाप्रद है जबकि ललित कलायें सौन्दर्य की प्राप्ति में सहायक हैं । इन्द्रियगोचरता की दृष्टि से कलाओं को दृश्य, श्रव्य तथा दृश्य-श्रव्य इन त्रिविध वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम वर्ग में वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकला का समावेश किया जा सकता है । द्वितीय वर्ग में काव्य तथा सङ्गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । दृश्य तथा श्रव्य उभय क्षमता से युक्त नाट्य कला तृतीय वर्ग की महत्त्वपूर्ण कला है ।

प्रमुख ललित कलाओं का स्वरूप

(क) **वास्तुकला--** इसे स्थापत्य भी कहा जाता है । यद्यपि वास्तु कला के माध्यम से मनोभावों की अभिव्यक्ति इतनी भली-भाँति नहीं हो पाती है, जितनी कि अन्य ललित कलाओं के द्वारा । तथापि मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरिजाघर आदि के शिखरों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अमुक भवन अमुक धर्म से सम्बन्धित है ।

वसु धातु में उणादि सूत्र (वसेस्तुन् 1/67) से तन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न वास्तु शब्द का अर्थ "वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हैं (वसन्ति अत्र) सिद्ध होता है । अर्थशास्त्र में इसके व्यापक अर्थ का ग्रहण करके उसमें गृह-क्षेत्र, उद्यान, सेतु, सीमा, दुर्ग भवन आदि सभी को समाविष्ट कर लिया गया है ।"[1] अतः वास्तुशास्त्र का प्रतिपाद्य उक्त समस्त प्रकारों के लिए उपाय तथा साधनों की व्याख्या प्रस्तुत करना है ।

प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में भी अनेक वास्तु कृतियों का वर्णन उपलब्ध होता है जिसमें काष्ठ प्रासाद, दुर्ग आदि अनेक विलक्षण आख्यान हैं । अथर्ववेद में स्तम्भ रचना प्रक्रिया तथा यज्ञशाला आदि वर्णन में वास्तुकला का सङ्केत प्राप्त होता है । शतपथ ब्राह्मण, बौद्ध पिटक, जातक, रामायण, महाभारत आदि में वास्तु कृतियों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । भरतकृत नाट्यशास्त्र में रङ्गशाला निर्माण के वर्णन प्रसङ्ग में वास्तु कला का विशद उल्लेख हुआ है ।

(ख) **शिल्प- (मूर्त्ति)--** यह वास्तु कला की अपेक्षा अधिक उन्नत है । इसकी उत्कृष्टता का मुख्य कारण इसमें विद्यमान मनोगत भावों की अभिव्यक्ति क्षमता है । इस कला का मुख्य साधन छेनी है ।

---

1. (क) अर्थशास्त्र– अध्याय (16)
   (ख) अध्याय- 19

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वप्रथम विष्णु धर्मोत्तर पुराण में मूर्तिकला सम्बन्धी वर्णन मिलता है । स्कन्द पुराण के अध्याय 46 में ब्रह्मस्वरूप का दर्शन कराती हुई मूर्ति का उल्लेख है । जो मूर्तिकला सम्बन्धी विकसित शैली का स्पष्ट प्रमाण है ।

मूर्ति निर्माण की साधन सामग्रियों में-- स्वर्ण रजत, ताम्र, प्रस्तर, काष्ठ, प्रस्तर चूर्ण, शीशा, लेप आदि नौ धातुओं का उल्लेख प्राप्त होता है ।

(ग) **चित्र--** रंग, कूची, पेंसिल, कलम, आदि इस कला के साधन हैं । यह शिल्पकला से उत्कृष्ट है । विष्णु धर्मोत्तर पुराण में वास्तुकला के स्वरूप को चित्र कला के एक अंश के रूप में वर्णित किया गया है । स्कन्द पुराण के चालीसवें अध्याय में भित्तिचित्र रचना प्रसङ्ग में चित्रकला का उल्लेख है । डॉ० के० सी० पाण्डेय ने वास्तु शिल्प के अन्तर्गत मूर्ति तथा चित्र कलाओं को अन्तर्भुक्त करके उसे वास्तु शिल्प के विभाग के रूप में प्रतिपादित किया है ।

(घ) **सङ्गीत--** इसका आधार नाद तथा स्वर है । मनुष्य का कण्ठ तथा विविध बाद्य-यंत्र इसके साधन हैं और कर्ण इसका उपकरण है । यह कला वास्तु-मूर्ति तथा चित्र कला से अधिक उच्चकोटि की है । 'गीतं नादात्मकम्'[1] कहकर सङ्गीत कला को नाद तथा स्वर का आधार माना गया है । 'तूर्यत्रयं' गीतवाद्यनृत्यानां मेलनम्'[2] के माध्यम से गीत, वाद्य तथा नृत्य से सम्बद्ध होने के कारण इसे कर्णेन्द्रिय, वागेन्द्रिय तथा नृत्य परक आङ्गिक अभिनय से सम्बद्ध किया जा सकता है ।

(ङ) **काव्य--** ललित कलाओं में सर्वोत्कृष्ट कला काव्य है । शब्द और अर्थ इसके आधार हैं ।

प्रत्येक कला एक दूसरे की अपेक्षा उच्चकोटि की है किन्तु अन्ततः काव्य कला का ही प्राधान्य सिद्ध होता है सङ्गीत कला को काव्य कला की अपेक्षा निम्न स्तर का कहा गया है जबकि वास्तु कला की तुलना में इसकी उत्कृष्टता निर्विवाद है । वास्तु कला को उपर्युक्त दोनों कलाओं की अपेक्षा निकृष्ट कोटि प्राप्त है, क्योंकि आध्यात्मिक भाव प्रकट करने के लिए जो उपादान सामाग्री अथवा साधन इसमें प्रयुक्त होता है वह अपेक्षाकृत स्थूलतम है ।

कला के उद्देश्य

विभिन्न विचारकों ने कला के विविध उद्देश्य बतलाए हैं जिनका विभाजन दो शीर्षकों में किया जा सकता है-- (1) जीवनोपयोगिता (2) कलावाद ।

जीवनोपयोगित्ववाद-- इसके अन्तर्गत कला के अनेक उद्देश्य समाविष्ट किये गये है यथा कला जीवन के लिए है; कला जीवन में प्रवेश के लिये है; कला सेवा के लिए है तथा कला आत्मानुभूति के लिये होती है ।

कलावाद-- कलावाद में भी अनेक उद्देश्यों को महत्त्व पूर्ण स्थान मिला है यथा-- कला कला

---

1. सङ्गीत रत्नाकर -- अध्याय 2-1
2. वही -- अध्याय 7(13-16)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए है; कला सर्जन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये है; कला आनन्द के लिए है; कला मनोरञ्जन के लिये है; कला सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना है; कला जीवन से पलायन के लिए है ।

कला की जीवनोपयोगिता-- कला जीवन के विकास तथा उत्कर्ष का व्यापक और महत्त्वपूर्ण साधन है । कलाये जीवन को प्रेरणा प्रदान करते हुए उसमें सरसता तथा उत्साह का सञ्चार करती है । कला के माध्यम से ही हमारे जीवन की यथार्थता और उसका आदर्श स्थापित होता है । इन्हीं उद्देश्यों की ओर सङ्केत करते हुए संस्कृत नाट्यशास्त्रीय आचार्य भरत ने नाट्य सन्दर्भ में प्रतिपादित किया है--

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥[1]

अर्थात् यह नाट्य प्रेक्षकों के दुःख, श्रम तथा शोक को दूर करके शान्ति प्रदान करने वाला है । इससे धर्म, यश, आयु तथा बुद्धि में वृद्धि होती है और साथ ही में यह हितकारी उपदेश प्रदान करने वाला है ।

आचार्य भामह ने साधुकाव्य को पुरुषार्थ चतुष्टय, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की प्राप्ति का साधन बतलाया है--

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥[2]

ध्वनिवादी आचार्य मम्मट की अधोलिखित उक्ति भी उक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि करती हुई प्रतीत होती है--

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[3]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य कला (काव्य) का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

कला कला के लिए-- भारतीय मनीषियों ने कला के उद्देश्य को अत्यन्त उत्कृष्टता और उच्चता प्रदान की है । यहाँ तक कि प्राचीन ऋषियों ने भी कला को मात्र जीवन तथा सम्भोग के लिए ही उपयुक्त न मानकर ब्रह्म साक्षात्कार को भी कला का परम लक्ष्य स्वीकार किया है--

---

1 नाट्यशास्त्र - 1/114-115
2. काव्यालङ्कार
3. काव्यप्रकाश 1/2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता ।
तीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ॥

अर्थात् कला का ब्रह्मानन्द (परमानन्द) प्राप्ति स्वरूप ही यथार्थ है । उसका भोग रूप तो बन्धन कारक होता है ।

इसी कला वाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत कला के अन्य जीवनोपयोगितेतर उद्देश्यों का विवेचन किया जाता है । कला सौन्दर्याभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है ।

उत्कृष्ट कला वही है जिसका सौन्दर्य कुत्सित न होकर पवित्रता ने के मापदण्ड पर आधृत हो । पण्डितराज जगन्नाथ ने "रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद जनक ज्ञानगोचरता" कहकर इसी ओर सङ्केत किया है । महाकवि माघ ने प्रतिपल विकसित होने वाले रूप को ही सौन्दर्य की संज्ञा प्रदान की है-- "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।"[1]

अधिकांश विद्वान् सौन्दर्य के आध्यात्मिक पक्ष पर विश्वास रखते हैं । सच्चा सौन्दर्य वही है जहाँ बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य का सुन्दर सामञ्जस्य हो । सौन्दर्य के अवलोकन से प्राणी को आनन्द की अनुभूति होती है और इस आनन्द की अभिव्यक्ति कराना ही कला का चरम उद्देश्य है । अतः अनुभूत सौन्दर्य के सजीव पुनर्विधान को कला कहा जाता है । कलाओं का यही सौन्दर्य इनकी सूक्ष्मता तथा स्थूलता का मापदण्ड है । सौन्दर्य विधान हेतु कलाकार का सहृदय होना परमावश्यक है । दण्डी तथा आनन्दवर्धन आदि ने भी कलाकार के सहृदयत्व पर अतिशय बल दिया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि कलाकार की सौन्दर्यानुभूति साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत तथा उच्च होती है । किसी कलाकार की आत्मा के कला में प्रतिष्ठित होने पर ही वह कला अनिवर्चनीयता, शाश्वतता, पवित्रता, सजीवता आदि को प्राप्त हो जाती है ।

काव्य एवं ललित कलायें

काव्य कला वस्तुतः ललित कलाओं के पाँच भेदों में से एक सर्वोत्कृष्ट कला है । काव्यकला की उत्कृष्टता तथा अन्य कलाओं की तदपेक्षया न्यूनता को रेखाङ्कित करते हुए डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है-- "सङ्गीत कला काव्य कला की अपेक्षा इसलिए निम्नतर कोटि की है क्योंकि इस कला से उद्भूत अनुभव में सामान्य इन्द्रिय जन्य अनुभवके विषय रूपी अंश का सर्वथा अभाव नहीं होता। इसका कारण यह है कि सङ्गीत के अनुभव में स्वर समुदाय का अनुभव भी आवश्यक अंश के रूप में विद्यमान रहता है । परन्तु वास्तु कला के साथ तुलना करने पर सङ्गीत कला इसलिए उच्चकोटि की मानी जाती है क्योंकि वास्तु कलाकृति की विधायक उपादान सामग्री साङ्गीतिक स्वरों की अपेक्षा अधिक स्थूल होती है और उसकी सत्ता भी प्रमाता से पृथक् है, जबकि सङ्गीत कला में उद्घाटनीय तत्त्व तथा उद्घाटन कर्त्ता साधन दोनों ही प्रमातृ निष्ठ (Subjective) होते हैं ।'[2] इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि काव्यकला में अन्य कलाओं की अपेक्षा इन्द्रियगोचरता न्यून है तथा यह सूक्ष्मतम है अतः श्रेष्ठ है ।

काव्य जीवन और सत्य के किसी स्वरूप का आकर्षक तथा सजीव चित्रण है ।[3] रमणीययार्थ को

---

1. माघ - शिशुपालवध
2. स्वतन्त्र कलाशास्त्र - प्रथम भाग अध्याय 14
3. कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ।।--

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकट करने वाली शब्द कला जो कल्पना तथा अनुभूति के माध्यम से गृहीत सत्य का निरुपण करती है, काव्यकला कहलाती है । मुख्यतः काव्य के दो भेद होते हैं– (1) गद्य (2) पद्य । शास्त्र तथा विज्ञान तो जीवन का सार तत्त्व प्रस्तुत करते हैं किन्तु जीवन के यथार्थ रूप की धारा को क्षुण्ण बनाए रखना तथा पूर्णरूपेण प्रवाहित करते रहना काव्य का ही कार्य है । भारतीय काव्याशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित काव्य प्रयोजन ही कला के प्रयोजन हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकताहै कि काव्य और ललित कला का सम्बन्ध घनिष्ठतम है । कला के उद्देश्य ही काव्य के उद्देश्य हैं और काव्य के प्रयोजन ही कला के प्रयोजन ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दशम अध्याय

साहित्यिक-समालोचना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दशम अध्याय

साहित्यिक-समालोचना

काव्यशास्त्र का सूत्रपात भरतमुनि के नाट्शास्त्र में विद्यमान है किन्तु आलोचना का प्रादुर्भाव राजशेखर कृत काव्य मीसांसा से स्पष्टतया लक्षित होता है । आगे चलकर ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्यादि सम्प्रदायों के सिद्धान्तन्तं विश्लेष द्वारा उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया ।

संस्कृत क्रिया 'लोच्' के विविध अर्थों की ओर दृष्टिपात करने से 'समालोचना' शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट होती है । 'लोच्' धातु के अर्थ को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

(1) नेत्रों से देखना ।

(2) इन्द्रिय मात्र से अथवा मन से ग्रहण करना ।

(3) प्रकाशित करना ।

जिससे कुछ देखा जाये, स्पष्ट अथवा प्रकाशित हो, वह 'लोचन' कहलाता है । 'समू' उपसर्ग का अर्थ है 'सम्यक्' रूप से 'तथा' 'आ' उपसर्ग का अर्थ है 'चारों ओर से' इस प्रकार समालोचना का अर्थ होता है- "समू सम्यक् आ समन्तात् लोचनमू समालोचनम्', अर्थात् किसी वस्तु को सम्यक् रूप से चारों ओर से देखना । संक्षेप में, किसी भी साहित्यिक कृति के अध्यापन तथा मननपूर्वक उसका रस ग्रहण करते हुए सभी दृष्टियों से उस कृति की स्पष्ट व्याख्या और निष्पक्ष विवेचन कर के पाठक को उसके रसास्वाद में सहायता करना ही उस ग्रन्थ की 'समालोचना' करना है ।

साधारणतया मानव में दो प्रकार की प्रतिभा उपलब्ध होती है-- (1) कारयित्री तथा (2) भावयित्री ।

समालोचक का उपकार करने वाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है । भावक (आलोचक) उसी के द्वारा कवि के परिश्रम और अभिप्राय को हृदयङ्गम कर सकता है ।

जो कवि भावक होता है, वह प्रायः अधम अवस्था का अनुभव नहीं करता है । इस प्रकार कवि और भावक में भेद नहीं है ।[1]

परन्तु इसके विपरीत कालिदास का कथन है कि कवि से भावक भिन्न है और भावक से कवि

---

1. प्रतिभा तारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा ।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशामू
--काव्यमीमांसा-चतुर्थोऽध्यायः

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिन्न है, क्योंकि दोनों में परस्पर स्वरूपगत और विषयगत भेद है । कोई काव्य बनाने में समर्थ है तो कोई समझने में, क्योंकि एक ही स्थल पर उत्कृष्ट गुणों का समुदाय नहीं होता है ।[1]

कवि और भावक को भिन्न मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उन दोनों में कौन उत्कृष्टतर है । कवि को अधिक महत्त्वपूर्ण मानने में यह तर्क है कि प्रथमतः कवि काव्य रचना करता है, समालोचक का कार्य उसके पश्चात् ही सम्भव है । अतः कवि समालोचक के लिए आधार प्रस्तुत करता है । इसके अतिरिक्त प्राचीनकाल से भारतवर्ष में 'कविर्मनीषी परिभूस्वयंभूः' कहकर तथा कवि को प्रजापति के तुल्य बतलाकर अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है--

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथा विपरिवर्तते ॥

इस विषय में कवि न बन पाने पर कोई व्यक्ति काव्यालोचक बन जाता है (Corruption of a poet is the birth of critic) यह पाश्चात्य धारणा भी कवि के ही सापेक्षिक महत्त्व को सिद्ध करती है । किन्तु समालोचक का महत्त्व भी कम नहीं है, क्योंकि कवि के काव्य का मूल्याङ्कन करके महत्त्वाकलन का कार्य तो भावक ही करता है तभी तो लोग उसकी कृतिकी महत्ता से अवगत होते हैं। भावक कवि का स्वामी, मन्त्री, मित्र शिष्य तथा गुरु सभी होता है ।[2]

आलोचक भावक के प्रकार

महाकवि मङ्गल तथा आचार्य वामन के मत में आलोचक दो प्रकार के होते हैं -- (1) अरोचकी तथा (2) सतृणाभ्यवहारी ।

राजशेखर ने चार प्रकार के भावक स्वीकार किये हैं--

(1) अरोचकी । अरोचकिता के दो भेद हैं (क) स्वाभाविका तथा (ख) ज्ञानोत्पादिका

(2)सतृणाभ्यवहारी

(3) मत्सरी

(4) तत्त्वाभिनिवेशी ।

---

1. कः पुनरनयोर्भेदो यत् कविर्भावयति भावकश्च कविरित्याचार्याः । 'न' इति कालिदासः । पृथगेव हि कवित्वाद् भावकत्वम, भावकत्वाच्च कवित्वम् । स्वरूपभेदाद् विषयभेदाच्च । यदाहुः--

कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतु मेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षा क्षमोऽन्यः ।।

--काव्यमीमांसा-चतुर्थोऽध्यायः

2. स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च ।
कवेर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः ।।

--वही - चतुर्थ अध्याय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भावक को सत्काव्य में भी वे दोष दिखाई पड़ जाते हैं जिन दोषों को सम्पूर्ण अभिनयों के निर्णय करने के समय ब्रह्मा जी भी नहीं देख सके । [1]

इस प्रकार अरोचकी समालोचक वे हैं जिन्हें किसी कवि की अच्छी से अच्छी कविता भी रुचिकर नहीं लगती । अरुचि दो प्रकार की होती है-- (1) नैसर्गिकी तथा (2) ज्ञानयोनि ।

जो अरुचि नैसर्गिकी है वह अनेक संस्कारों में भी दूर नहीं होती है और ज्ञानयेनि अरुचि किसी उत्कृष्ट रचना से दूर हो सकती है ।

सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे हैं जिन्हें समस्त वस्तुएँ रुचिकर प्रतीत होती हैं । ये भावक प्रायः विवेक रहित होते हैं मत्सरी आलोचक ईर्ष्या, द्वेष, दुराग्रह, पूर्वाग्रह दबाव अथवा मिथ्याभिमान के कारण दूसरे कवि के गुणों को भी दोष समझते हैं ।

तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक कवि श्रम के आकलनकर्त्ता होते हैं जो अनुपम दृष्टियों से आह्लादित होते हैं, जो अनुपम दृष्टियों से आह्लादित होते हैं, काव्य के रसामृत का पान करते हैं तथा रचना के गुण तात्पर्य का अन्वेषण कर उसको प्रकाश में ले आते हैं । वे प्रायः नीरक्षीरविवेकी होते हैं ।

किन्तु मत्सरता रहित और सुविज्ञ भावक बहुत ही दुर्लभ है । जैसा कि कहा गया है--

"जो गुण तथा दोषों की विवेचना करे और स्वयं भी सत्कवि हो ऐसा भावक इस संसार में दृष्टिगत नहीं होता यदि दैववशात् कोई हो भी तो निर्मत्सरी नहीं होगा ।" [2] और तत्त्वाभिनिवेशी समालोचक तो हजारों में कोई एक ही होता है; जैसा कि काव्य मीमांसाकार ने कहा है--

'जो शब्दों की गुम्फनविधि का विवेचन करे, जो सूक्तियों से प्रसन्न हो, रसामृत का आस्वादन करे तथा तात्पर्यान्वेषण करे; कवि के श्रम को जाननेवाला ऐसा विचारशील मनुष्य किसी विद्वान् को कदाचित् पुण्यातिशय से ही प्राप्त होता है ।' [3]

आलोच्य विषय

काव्य के समस्त रूपों की आलोचना हो सकती है-- कविता, उपन्यास, नाटक, निबन्ध कहानी आदि । आलोचना ग्रन्थ की भी आलोचना हो सकती है । जीवन में काव्य की जितनी उपादेयता है उतनी ही साहित्य में समालोचना की । समालोचना जैसे किसी वस्तु, पदार्थ, स्थान और मनुष्य की हो सकती है वैसे ही कविता, नाटक एवं निबन्ध तथा उपन्यास की भी । परसमालोचना से हमारा

---

1. सत्काव्ये विक्रियाः काश्चिद्भावकस्योल्लसन्ति ताः ।
   सर्वाभिनय निर्णीती दृष्टा नाट्यसृजा न, याः ।। --काव्यमीमांसा चतुर्थ अध्याय
2. यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः ।
   सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवात्र निर्मत्सरः ।। --काव्यामीमांसा, चतुर्थ अध्याय ।
3. शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामामोदते सूक्तिभिः ।
   सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्य मुद्रां च यः ।
   पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
   केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः ।। वही, चतुर्थ अध्याय ।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तात्पर्य साहित्यिक समालोचना से ही है, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक टीकाओं से नहीं । जो व्यक्ति अपनी साहित्यिक अभिरुचियों, मान्यताओं तथा सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में जितना अधिक अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करेगा वह उतना ही उच्च कोटि का समालोचक होगा ।

एक समालोचक उच्चकोटिका पण्डित होता है; वह गुणों का ग्राहक होता है तथा सत्यता को ग्रहण करने के लिए उसका हृदय और मस्तिष्क सदैव सजग रहता है । एक अच्छा कवि यदि जीवन की व्याख्या करता है तो एक उत्कृष्ट आलोचक हमें वह व्याख्या हृदयङ्गम कराने में सहयोग देता है। समालोचना में काव्य के समस्त प्रमुख अङ्गों की व्याख्या तो की ही जाती है, स्वयं आलोचनात्मक ग्रन्थों को भी व्याख्या की जा सकती हैं सामान्य रूप से समालोचना का विषय काव्य पर ही अवालम्बित है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दैनिक जीवन के अपेक्षाकृत कम मूल्यवान तथा कुरुचिपूर्ण कार्य व्यापार की अभिव्यक्ति करने वाले काव्य की भी आलोचना की जाये । अतः समालोचना ऐसे काव्य की ही होनी चाहिए जो उस के योग्य हो ।

आलोचना की प्रकृति-- आलोचना की प्रकृति अथवा स्वरूप को लेकर मत मतान्तर हैं-- किसी के मत में आलोचना निर्णायिका है तो कोई इसे प्रभावात्मिका कहता है । कभी यह व्याख्यात्मिकी, कभी शोधिका, कभी अन्वेषिका, कभी काव्य की निकष तो कभी निर्वैयक्तिक मत प्रेषण के रूप में मानी जाती है । इस प्रकार आलोचना की व्यापक परिधि का ज्ञान होता है ।

आलोचना की जहाँ भी नवीन, सुन्दर तथा मौलिक विशेषतायें उपलब्ध होती हैं,वह किसी मानदंड के आधार पर अथवा उसके अभाव में उन्हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण करती है ।

इतिहास तथा आलोचना का कार्य भिन्न है ।

इतिहास, तथ्यों के अनुसन्धान के अनुसार अपनी व्यवस्था और मान्यताओं में परिवर्तन तथा संशोधन करता रहता है । जबकि आलोचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखती हुई लेखक के महत्त्व का प्रकाशन, कृति की मूल्याङ्कन सम्बन्धी विवेचना, कृति की व्याख्या और उसकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण करती है ।

काव्याशास्त्र के अन्तर्गत समस्त काव्य में व्याप्त उसके स्वभाव, सौन्दर्य, प्रक्रिया, प्रभाव नियमों सिद्धान्तों, वर्गीकरण, भेद-प्रभेद, मानदंड, प्रयोजन आदि पर व्यापक रूप से विचार-विमर्श किया जाता है । इस प्रकार जिसमें किसी कवि की कृति की व्याख्या तथा उसका मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाये, वह आलोचना है ।

आलोचनाका उद्देश्य-- किसी भी साहित्यालोचना के तीन प्रमुख उद्देश्य होते हैं-- (1) कवि की कृति का सभी दृष्टियों से मूल्याङ्कन करके सत्काव्य केप्रति पाठकों की रुचि जाग्रत करना । (2) असत् या दूषित् साहित्य से समाज को विमुख करना । (3) भावी सत्साहित्य के मार्ग को प्रशस्तकरना । इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काव्यालोचक को पूर्वाग्रहों से मुक्त, सहृदय तथा निष्पक्ष होना चाहिए ।

राजशेखर के अनुसार समालोचक की प्रतिभा कवि के श्रम और उसके अभिप्राय को व्यक्त करती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है । आलोचना का कार्य कवि तथा उसकी कृति का यथार्थ मूल्य प्रकट करना है । कलात्मक उत्कृष्टता का पूर्व प्रकाशन आलोचना का श्रेष्ठ कार्य है । साथ ही कवि प्रतिभा की विशेषताओं का पूर्ण उद्घाटन, कलाकृति के द्वारा कवि की मनःस्थिति पर प्रकाश डालना, वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक तथा युग की परिस्थितियों के प्रभाव को स्पष्ट करना भी आलोचना के क्षेत्र में निहित है । इस प्रकार व्यक्तिगत प्रभावों से लेकर तटस्थरूप से सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी इसी सीमा के अन्तर्गत आ जाता है ।

आलोचक के गुण-- आलोचक में निम्नलिखित गुण होने आवश्यक हैं--

1. **काव्य रसिकता अथवा सहृदयता--** काव्य रसिकता या सहृदयता आलोचक का महान् गुण है जबकि अरसिकता अथवा असहृदयता उसका न्यूनगुण है-- 'अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मालिख मालिख मालिख' उक्ति के अनुसार अरसिकता त्याज्य है ।

2. **तटस्थता--** कोई आलोचक कृतियों के मात्र गुणों को ही ग्रहण करते हैं तो कोई केवल उनके दोषों को किन्तु जो आलोचक दोषों का त्याग करते हुए गुणों का ही ग्रहण करते हैं वे तटस्थ होते हैं--

गुणादान परः कश्चिद् दोषादानपरो परः ।
गुण दोषा हृतित्याग परः कश्चन भावकः ॥

3. **विद्वत्ता--** आलोच्य विषय, लोक तथा शास्त्रादि का व्यापक गम्भीर और सूक्ष्म ज्ञान होना ही आलोचक का विद्वत्ता गुण है ।

4. औदात्त्य तथा (5) निर्णायकता आलोचक के अपर महत्त्वपूर्ण गुण हैं ।

इस प्रकार किसी भी आलोचक में गुण दो प्रकार के होते हैं-- (1) जन्मजात तथा (2) अर्जित। बुद्धि तथा प्रतिभा जन्मजात गुण है और अध्ययन शीलता, मननशीलता, शास्त्रीय अध्ययन आदि अर्जित गुण हैं ।

इस प्रकार आलोचक को चाहिए कि व्यक्तिगत, धार्मिक, सामाजिक, तथा राजनीतकि पूर्वाग्रहों, साहसहीनता और मत्सरता से सर्वथा मुक्त रहे । कभी-कभी विरोधी समालोचनाओं से विषय का मंथन भली-भाँति होता है और सार रूपी नवनीत निःसृत होकर पाठकों के लिए हितकारी सिद्ध हो जाता है ।

आलोचक में त्रिकालदर्शी के गुण विद्यमान रहते हैं । वह वर्तमान के चतुष्पथ पर स्थित होकर अतीत से प्रभावित होते हुए स्वर्णिम भविष्य की रूपरेखा का निर्माण करता है ।

काव्य की प्रत्येक गतिविधि पर वह अपनी तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि रखता है । इस गुरुतर दायित्व के निर्वाह केलिए वह क्रमशः निरीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, तथा निर्णय निर्धारण आदि कृत्यों को करता है । समालोचक वह साहित्यिक न्यायाधीश है, जो शास्त्रीय समालोचना के रचना तन्त्र को दृष्टि पथ पर रखते हुए निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर कृति के गुण-दोषों का सम्यक् रूपेण विवेचन करता है । यह सत्य है कि समय और परिस्थितियों के अनुसार ये सिद्धान्त बनते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिगड़ते रहते हैं, फिर भी अपनी बुद्धि से निर्मित कसौटी पर समालोच्य कृति को कसे बिना न तो काव्य का ही उद्धार हो सकता है और न समालोचना का परिमार्जन ही सम्भव है । इसलिए परीक्षा करने की विविध प्रणालियों को लेकर आज समालोचना की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं--

(1)व्यक्तिगतसमीक्षा

(2)सैद्धान्तिकसमीक्षा

(3)व्याख्यात्मकसमीक्षा

(4)निर्णयात्मकसमीक्षा

(5)तुलनात्मकसमीक्षा

(6)मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिकसमीक्षा

(7)ऐतिहासिकसमीक्षा

(8)व्यावहारिकसमीक्षा

(1) वैयक्तिक आलोचना का आधार है स्वच्छन्द व्यक्तिवाद और आत्मचेतना । इस आलोचना में कल्पना और भाव-तत्त्व का प्रधान्य रहता है तथा विचार तत्त्व न्यून मात्रा में ।

(2) सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत आलोचक किसी अमर कृति केआधार पर व्यापक काव्य सिद्धान्तों का अन्वेषण करता है ।

इस प्रकार की आलोचना के अन्तर्गत काव्यशास्त्र-सम्बन्धी आलोचनात्मक ग्रन्थों का विश्लेषण किया जा सकता है । ध्वन्यालोक, काव्य प्रकाश, रसगङ्गाधर आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ इसके अन्तर्गत विवेच्य हैं, क्योंकि इनमें किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन तथा पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए उसे सैद्धान्तिक आधार पर विवेचित किया गया है ।

(3) व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों को अधिक महत्त्व न देकर कवि के अन्तः करण में प्रवेश करके उसके आदर्श दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है।

(4) निर्णयात्मक आलोचना के अनुसार काव्य की चार श्रेणियाँ की जा सकती हैं-- उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम । इस आलोचना का उद्देश्य सिद्धान्तों को व्यवहार में लाकर किसी काव्यकृति का काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर कसना होता है । यह आलोचना सैद्धान्तिक आलोचना से विपरीत होती है ।

(5) इसके अन्तर्गत विभिन्न कवियों की समान विषय वाली कृतियों की तुलनात्मक समीक्षा की जाती है । मनोवैज्ञानिक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना में बहुत अल्प अन्तर है । मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि के अन्तः मनोभावों तथा रुचि का अध्ययन किया जाता है ।

(7) ऐतिहासिक आलोचना में कर्त्ता और कृति की सामयिक सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक, तथा धार्मिक आदि परिस्थितियों के आधार पर कवि की कृति का मूल्याङ्कन किया जाता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवहारिक समीक्षा का प्रवर्तन पाश्चात्त्य जगत् में आई० ए० रिचर्ड्स के द्वारा बीसवीं शती में किया गया था । संस्कृत भाषा के क्षेत्र में अत्यन्त प्राचीन काल से टीका ग्रन्थों के रूप में व्यवहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट रूप देखा जा सकता है । इसमें कृति की आलोचना का प्राधान्य होता है और रचयिता की स्थिति नगण्य होती है । कविता स्वयं में अपना सन्दर्भ होती हैं । कवि की अन्तर्वस्तु किंवा वक्ता में अभिप्राय के विश्लेषण की महत्ता होती है । संस्कृत व्यवहारिक समीक्षकों में अभिनवगुप्त, नमिसाधु, धनिक, मल्लिनाथ, तथा नागेश भट्ट आदि प्रमुख हैं । भारतीय आलोचना पद्धति के अनेक रूप दृष्टव्य हैं । सबसे महत्त्वपूर्ण रूप सूत्र मयी सैद्धान्तिक आलोचना का है । सैद्धान्तिक सूत्र कई प्रकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप लिखे गये । प्रथम काव्य की आत्मा का अन्वेषण करने से सम्बन्धित है तथा द्वितीय कवि-शिक्षा से । अतिदीर्घ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में दोनों ही प्रकार के सूत्र एक साथ उपलब्ध होते हैं । काव्यात्मा की खोज करने वाले, साहित्यालोचना के सैद्धान्तिक सूत्र ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र (भरत), काव्यालङ्कार (भामह), काव्यादर्श (दण्डी), काव्यालङ्कार-सूत्र (वामन), वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक), ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), काव्यप्रकाश (मम्मट), औचित्य विचार चर्चा (क्षेमेन्द्र), साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) आदि प्रमुख हैं ।

सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना का दूसरा रूप हमें काव्यरूपों और कविशिक्षा के ग्रन्थों में मिलता है । इन ग्रन्थों में काव्य के विविध रूपों को देखकर उनके लक्षण निकालना, प्रयुक्त भाषा आदि के विषय में नियम निरुपित करना, वर्ण्य विषयों और वर्णन परम्परा को समझना तथा काव्य दोषादि का निर्देश करना रहता है ।

व्यवहारिक आलोचना पद्धति के प्रसङ्ग में -संस्कृत साहित्य के कतिपय रूप इस प्रकार हैं-- सूत्र, कारिका, फिक्किका, वृत्ति, टिप्पणी भाष्य, वार्तिक, वचनिका, टीका, व्याख्यान आदि ।

संस्कृत की इस परम्परा को अधोलिखित आलोचना शैलियों में वर्गीकृत किया जा सकता है--

(1) **आचार्य पद्धति--** इसमें दृश्य तथा श्रव्य काव्य कृतियों को समक्ष रखकर उनका गुण, रीति, अलङ्कार, रस तथा दोषों की दृष्टि से मूल्याङ्कन करके उनकी उत्कृष्टता तथा निकृष्टता का निर्धारण करना ।

(2) **टीका पद्धति--** प्राचीन उक्ति 'ग्रन्थस्य ग्रन्थान्तरं टीका' से यह तथ्य निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत आलोचना पद्धतियों में टीका पद्धति का कितना महत्त्व था । इसमें टीकाकार का उद्देश्य कवि या लेखक के अभिप्राय को मुख्यतः स्पष्ट करना होता है किन्तु साथ में वह गौण रूप से कृति में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का निर्धारण भी कर देता है ।

(3) **शास्त्रार्थ पद्धति--** इसमें पूर्वपक्ष का खण्डन करके अपने पक्ष का प्रबल तर्कों से मण्डन किया जाता है ।

(4) **सूक्ति पद्धति--** इसमें संस्कृत के रचनाकारों से सम्बन्धित प्राचीनकाल से परम्परागत ढंग से चली आ रही प्रशंसा अथवा आलोचनापरक सूक्तियाँ आती हैं ।

(5) **वितण्डा अथवा खण्डन पद्धति--** इसमें मुख्यतः दोषदर्शन की दृष्टि रहती है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आलोचना तथा प्रत्यालोचना

आलोचना की आलोचना प्रत्यालोचना कहलाती है । संस्कृत में यह पद्धति बहुत प्रचलितहुई--जैसे कि ध्वन्यालोक पर लोचन टीका; लोचन पर लोचनाञ्जन तथा लोचनाञ्जन पर लोचनाञ्जन शलाका । इसी प्रकार व्याकरण सिद्धान्त कौमुदी पर मनोरमा टीका तथा मनोरमा पर मनोरमा कुचमर्दिनी ।

निष्कर्षतः किसी श्रेष्ठ समालोचना को न तो किसी वर्ग अथवा वाद विशेष का आदर या प्रचार करना चाहिये और नही उसमें लिप्त होना चाहिए ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एकादश अध्याय

काव्यात्म-समीक्षा तथा विभिन्न काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एकादश अध्याय

काव्यात्म - समीक्षा तथा विभिन्न काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय

संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि कर्म काव्य के स्वरूप का गम्भीरतापूर्वक चिन्तन प्राचीन काल से होता रहा है । काव्य लक्षण निर्धारण में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर काव्य की परिभाषा नियत की है । यद्यपि भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त काव्यलक्षण काव्यप्रयोजन काव्यहेतु तथा काव्यभेदादि की चिन्तन सरिता अबाध गति से प्रवाहित होती रही है; तथापि काव्यलक्षण निर्धारण में ही विद्वानों में मतैक्य नहीं है । काव्य की परिभाषा को लेकर आचार्यों में मुख्यतः दो वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं--शब्दार्थपरक तथा शब्द के प्राधान्य पर आश्रित । किन्तु शब्द प्राधान्यपरक काव्यलक्षण का पर्यवसान अन्ततोगत्त्वा शब्दार्थ परक परिभाषा में ह्येता है ।

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कहकर शब्द को ही काव्य मानने वाले पण्डितराज जगन्नाथ अपने विलक्षण प्रातिभा प्रयोग से नव्यन्याय शैली का आश्रय लेकर अपने काव्यलक्षण की व्याख्या में प्रकारान्तर से शब्द से अर्थ का समान सहभाव स्वीकार करते हैं तथा काव्य प्रतिभा के निरूपण प्रसङ्ग में "सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः" स्वीकृत करते हुए भामहादि का ही अनुवर्तन करते प्रतीत होते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से सामान्य रूप से शब्दार्थ के विशिष्ट साहित्य को काव्य बतलाया गया है । सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' के लिए शरीर रूप काव्य शब्द का प्रयोग किया है ।[1]

इस प्रकार यदि शब्दार्थ शरीर है तो उस शरीर में कोई ऐसा अनुप्राणक तत्त्व अवश्य होना चाहिए जो शब्दार्थरूप शरीर का जीवातु अथवा आत्मतत्त्व कहा जा सके । शब्दार्थरूप शरीर में जीवातु रूप वह तत्त्व कौन हो सकता है, इसी तत्त्व का अन्वेषण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आचार्यों का प्रतिपाद्य रहा है । इस प्रकार भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त इसी आत्मपरक मीमांसा की चिन्तनसरणि में विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, जो या तो पूर्व सम्प्रदायों की मान्यता को आगे बढ़ाते हुए उसे और अधिक पुष्टि प्रदान करते हैं, या उसे पूर्णतया दोषयुक्त बतलाकर अपने नये सिद्धान्तों की आधारशिला रखते दृष्टिगत होते हैं ।

---

1. तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदाव ली ।।
-- काव्यादर्श, 1/10.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आचार्य राजशेखर काव्यपुरुष के विवेचन प्रसङ्ग मे उसके विभिन्न अवयव संस्थानों का उपनिबन्धन करते हुए काव्यपुरुष को मूर्त्तरूप प्रदान करते हैं--

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहू, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् । समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर प्रवल्हिकादिकं च वाक्केलिः अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति ।"[1]

समुद्रबन्ध ने विभिन्न सम्प्रदायों के वैशिष्ट्य को काव्यलक्षण निर्धारण स्थल पर प्रसङ्गतः विश्लेषित करते हुए लिखा है--

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः । आद्येप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्ति जीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन ।"[2]

उक्त मत में धर्ममुखेन से अलङ्कार तथा रीति सम्प्रदाय का व्यापार मुखेन से वैदग्ध्यभङ्गी भणिति रूप वक्रोक्ति का तथा व्यङ्ग्यमुखेन से ध्वनि सम्प्रदाय का संकेत प्राप्त होता है ।

आचार्य विश्वनाथ ने भी समस्त सम्प्रदायों के विवेचन तथा विश्लेषण के पश्चात् रीति, गुण, रसादि का काव्यशरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसके समग्र वैशिष्ट्य का आकलन अधोलिखित अनुच्छेद में किया है, जिसमें आत्मतत्त्व के रूप में एकमात्र रस का ही प्राधान्य स्वीकार किया है--

"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत् रीतयोऽवयव संस्थानविशेषवत्, अलङ्काराश्च कटककुण्डलादिवत् ।"3

प्रत्येक सिद्धान्त स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख प्रतीत होता है । उक्त चिन्तनधाराओं में अलङ्कारवादी, रीतिवादी और वक्रोक्तिवादी आचार्यों का मत बहिर्मुखी प्रवृत्ति का द्योतक है । जबकि रस, ध्वनि और औचित्य काव्य के आत्मतत्त्व के विश्लेषक होने के कारण आत्मवादी सिद्धान्त कहे जा सकते हैं ।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि सभी सिद्धान्त अन्ततः रस में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । सौन्दर्य को अलंकार मानने वाले अलङ्कारवादी आचार्य भामहादि यद्यपि अलङ्कारों का वर्चस्व स्थापित करते हैं तथापि रसवत् अलङ्कारों में रस आदि का वैशिष्ट्य स्वीकृत करके उसे भी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते ।

विशिष्ट पद-संघटना को रीति का अभिधान देने वाले रीतिरात्मावादी वामन उसका वैशिष्ट्य गुणात्मा होने में ही प्रतिपादित करते हैं, जो रसोन्मुखी होकर ही अपनी सत्ता बनाये रख सकता है । अन्ततः रस में ही पर्यवसित तथा अङ्ग रूप में स्थित प्रसिद्ध प्रस्थान ध्वनि का ही पोषण करते हैं,

---

1. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय,
2. समुद्रबन्ध, पृष्ठ 3-4.
3. साहित्य दर्पण, 1/45.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जबकि ध्वनि भी रस को अपने में अन्तर्भुक्त करता हुआ अन्ततोगत्वा रस को ही प्रमुखत्त्व प्रदान करता है ।[1]

आचार्य विश्वनाथ वस्तु तथा अलङ्कार से अलङ्कृत (रसहीन) पद्य में भी रसनीयता के पोषण से उसे रसवत् होना आवश्यक मानते हैं--

"ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पदानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न । रसवत् पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात् ।"[2]

औचित्य सिद्धान्त की स्थापना करते हुए भी क्षेमेन्द्र रस में औचित्य का स्थिर जीवितत्व प्रतिष्ठापित करते हुए रसरूप अलङ्कार्य का पोषण करते प्रतीत होते हैं ।

"औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।"

अन्ततः पण्डितराज जगन्नाथ रमणीयता के द्वारा प्रकारान्तर से रस को ही काव्यात्म रूप में प्रतिष्ठित करते हुए व्यङ्ग्य रूप में अन्ततः रस ध्वनि का ही परम रमणीयत्व सिद्ध करते हैं

(क) "पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते ।"[3]

(ख) परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमानः प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयमावहतीति निर्विवादम्।[4]

(i) भामह यद्यपि प्रत्यक्षतः काव्य के जीवातु का विवेचन नहीं करते हैं, तथापि अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति के अभेद निरुपण में उन्होंने अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति के उपादान से काव्य में रमणीयता का आख्यान किया है, वहीं वक्रोक्तिरूप वैचित्र्य से चमत्कृत वाक्य से सहृदय के हृदय में अलौकिक रमणीयता की अनिर्वचनीय उत्पत्ति होती है, अन्यथा वक्रोक्तिशून्य काव्य काव्य न होकर वार्तामात्र कहा जायेगा ।[5] 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादि वाक्यों में वक्रोक्ति के कारण ही चारुता का आधान होता है । अतः एकमात्र वही वाणी का अलङ्करण कहा जा सकता है ।[6]

अलङ्कारों से भूषित युवती के सदृश अलङ्कार विन्यास से अलङ्कृत कविवाणी विलक्षणता को प्राप्त करती है ।[7] वस्तुतः यही विभा वक्रोक्ति की वाचिका है । प्रकृत्या कान्त होने पर भी अलङ्कारों से भूषित नारी की भाँति कविवाग् वक्रोक्ति की अलौकिक काव्य बन्धता से दीप्ति प्राप्त करती है--

---

1. रसस्य चर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रस ध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति । ध्वन्यालोक, 1/1 पर लोचन ।
2. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद ।
3. रसगङ्गाधर, प्रथम आनन ।
4. तदेव , प्रथम आनन ।
5. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।। काव्यालङ्कार, 2/84.
6. न नितान्तादिमात्रेण जायन्ते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ।। --तदेव, 1/38.
7. अनेन वागर्थविदामलङ्कृता विभाति नारीव विदग्धमण्डताम् ।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा ।
अस्यां सुवर्णालङ्कारः पुष्णाति नितरां श्रियम् ।।'[1]

अतः वक्रोक्तिरूप शब्दार्थ वैचित्र्य के लिए शब्दतः आत्मपरक शब्दों का प्रयोग न करते हुए भी भामह वक्रोक्ति अलङ्कारों का अङ्गित्व स्थापित करते हैं । जिस उदाहरण को रुद्रट ने भावालङ्कार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है उसे ही मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है ।

अतः प्रतीत होता है कि भामह आदि आलङ्कारिक सौन्दर्याधायक उन पृथक् (जिसे परवर्ती ध्वनिवादी आचार्य प्रतीयमान अर्थ घोषित करते है) तत्त्वों की विलक्षणता अनुभव तो करते हैं तथा रस की महत्ता प्रच्छन्नतः स्वीकृत भी करते हैं, तथापि अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों के सदृश उन्हें ध्वनि के स्वरूप का पूर्णतया ज्ञान न होने के कारण परिव्यक्त कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं ।

गुणों के प्रति प्रबल आग्रही दण्डी का काव्यादर्श भी 'वाचामुत्तम भूषणम्'[2] लिखकर वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति में ही सम्पूर्ण काव्य को विभक्त करता है तथा वक्रोक्ति को ही वाङ्मय का एकमात्र प्रकार तथा स्वभावोक्ति को आद्य अलङ्कृति मानता है ।[3]

यद्यपि भामह की भाँति दण्डी भी रसों की ओर उन्मुख प्रतीत होते हैं, परन्तु उन्हें ईप्सित तथा अभिलषित सौन्दर्य स्वभावोक्ति में ही प्रतीत होता है, वही काव्य सौन्दर्य का समस्त भार वहन करती है–

कामं सर्वोऽप्यलङ्कारः रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।।[4]

अलङ्कार सम्प्रदाय के परवर्ती अनुयायी जयदेव अलङ्कारहीन काव्य की तुलना अनुष्ण अग्नि से करते हुए अलङ्कार को काव्य का जीवनाधायक तत्त्व घोषित करते हैं ।[5]

(ii) इसके अनन्तर आठवीं शताब्दी में उत्पन्न वामन ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने शब्दार्थ इष्ट काव्य में सर्वप्रथम काव्यात्मा का शब्दतः विश्लेषण किया है ।[6] उनके द्वारासौन्दर्य रूप में स्वीकृत अलङ्कार काव्य का अविभाज्य अङ्ग हैं तथा उस सौन्दर्यरूप अलङ्कार का वैशिष्ट्य विशिष्ट पद रचना

---

1. भामह काव्यालङ्कार, 6/30.
2. काव्यादर्श, 2/363.
3. स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्यासालङ्कृतिर्यथा ।
   वही, 2/28.
4. वही 1/62.
5. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्ण मनलंकृती ।।
   चन्द्रालोक, 1/8.
6. तदुपस्कार्यः पुनरात्मा कैश्चिदपि नाप्युपगतः । वामनेन तु
   तदुपस्कार्य आत्मा कश्चिदुक्तः । जयरथ, विमर्शिनी, पृष्ठ 8.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के शब्द गुम्फन में है । वस्तुतः यही काव्य की आत्मा है । इन्हीं अलङ्कारों से संस्कृत काव्यों में गुणों के वैशिष्ट्य से विशेष लालित्य का आधान होता है ।[1]

भामह के समय आभूषणों से भूषित युवती के सौन्दर्य के सदृश जिस कविवाग् की चारूता अलङ्कारों से ग्राह्य थी, वही वामन के अनुसार अनित्य धर्म होकर युवती के स्वाभाविक लावण्यरूपी गुणों का पोषक होकर वाह्य और अनित्य धर्म बन गया तथा नारी में स्वभावतः लावण्यादि गुणों के सदृश गुण काव्य के नित्य धर्म होकर काव्य के जीवातु रीति का पोषण करते हुए काव्य की श्रीवृद्धि के हेतु बन गये । रीतिकाव्य चित्र में रेखाओं की भाँति [2] अविभाज्य होकर अलङ्कारों की अपेक्षा अपना श्रेष्ठत्त्व प्रतिपादित करने लगा ।

वामन द्वारा निर्धारित दस गुण ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति काव्यगत विशिष्ट पद विन्यास में सहायक होने के कारण प्रमुख हो गये ।

अभी तक अलङ्कारों का सम्बन्ध साक्षात् संकेतित अर्थ को व्यक्त करने के कारण अभिधा से था, परन्तु वामन के दस अर्थगुणों में परिगणित समाधि चमत्कारपूर्ण अन्य अर्थ की उत्पादिका वृत्ति होने के कारण लक्षणा नामक शब्दशक्ति तक पहुँच गयी । इस प्रकार वामन के समय तक अभिधा तथा लक्षणा दोनों ही शब्द शक्तियाँ काव्य प्रयोग का विषय बन गयी ।

अतः वामन ने माधुर्य गुण में भामह के वक्रोक्ति[3] तथा कान्तिगुण में रसों का अन्तर्भाव करते हुए[4] सम्पूर्ण सौन्दर्याधायक तत्त्वों को गुणात्मा रीति में अन्तर्भुक्त करके उसे ही काव्यात्म माना । परवर्ती मम्मट आदि ने रीतयोऽवयव संस्थान विशेषवत कहकर काव्य में उसकी स्थिति मात्र वाह्य सौन्दर्य की चारूता तक सीमित करके उसे पद रचना के विशिष्ट शब्द गुम्फन तक स्वीकार किया ।

(iii) अलङ्कार तथा रीति को काव्यात्म पद पर प्रतिष्ठित करते हुए आचार्यों ने अभिधा तथा लक्षणा नामक शब्द शक्तियों की प्राचीन वैयाकरणों तथा मीमांसको द्वारा व्यवस्थापित सरणि से विसंवाद नहीं किया, अर्थात् शब्द तथा अर्थ के सहभाव को काव्य का अभिधान देकर आचार्य अलङ्कार रीति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे थे । अतः इसके लिए शब्द तथा अर्थ के सम्बन्धों की व्याख्या करने वाली शब्द शक्तियों की अविच्छिन्न परम्परा उन्हें अपने पूर्व के शाब्दिको-भर्तृहरि, पतञ्जलि तथा यास्क से प्राप्त थी । अतः आनन्दवर्धन ने भी सर्वप्रथम जब ध्वनि को काव्यात्मक पद पर प्रतिष्ठित किया तब उन्होंने भी उसे पूर्वाचार्यों द्वारा सम्मत बतलाते

---

1. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।
   काव्यालङ्कार सूत्र, 3/1/1.
2. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम् ।।
   काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति, 1/2/13 की वृत्ति.
3. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् । वही, 3/2/10.
4. दीप्तः रसा श्रृङ्गारादयो यस्य स दीप्त रसः ।
   वही, 3/2/14.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए-'समाम्नातपूर्वः' तथा 'बुधैः कथितः' आदि शब्दों का प्रयोग किया, तथा अपने सिद्धान्त का आधार स्तम्भ वैयाकरणिक दृष्टि से स्वीकार करते हुए लिखा--

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणास्तेच श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।'[1]

इस प्रकार यहाँ श्रूयमाण वर्ण को ध्वनि का मूलाधार कहा गया है । अर्थात् जिस प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध अर्धनारीश्वर की भाँति सम्पृक्त रूप में होता है, उसी प्रकार काव्य में भी वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ के द्योतन में समर्थ व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त का सुरम्य प्रासाद स्थिर है ।

वस्तुतः यही प्रतीयमान अर्थ सहृदय संवेद्य है । सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित यही प्रतीयमान अर्थ आभासित होता है । आनन्दवर्धन इसके लिए घट प्रदीपन्याय से ध्वनि को आलोक्य मानते हैं--

"यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतौ उत्पन्नायां न प्रदीपो
प्रकाशो निर्वर्ति, तद्वत् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः ॥'[2]

यही सहृदयहृदयाह्लाद प्रतीयमान अर्थ रूप स्त्री में लावण्य की भाँति प्रतीयमान होकर काव्य में आत्म पद प्राप्त करता है--

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[3]

आगे चलकर वस्तु, अलङ्कार तथा रस की व्यङ्ग्यात्मकता के आधार पर प्रतीयमान अर्थ के वस्तु, अलङ्कार तथा रस त्रिविध भेद किये गये, जिसमें व्यङ्ग्य का प्राधान्य तथा उसकी चारुता ही इसका विभाज्य तत्त्व माना गया । अतः अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्यात्म विषयक मत का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन अलङ्कार तथा गुण को वाच्य तथा वाचक पर आश्रित मानते हैं, जबकि ध्वनि वाच्य वाचक भाव से अतिरिक्त व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव पर आश्रित है ।

परवर्ती काल में ध्वनिवाद के समर्थक आचार्य रुय्यक भी व्यङ्ग्यार्थ को ही काव्यजीवित स्वीकार करते हैं । रसादि के उपस्कारक होने के कारण अलङ्कारों का गौणत्व स्वतः सिद्ध है--

'तस्मात् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः ।
यस्य गुणालङ्कारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम् । रसादयस्तु जीवितभूताः ।'4

इस प्रकार जिस उक्ति वैचित्र्य को दण्डी वक्रोक्ति कहकर काव्य का परम तत्त्व घोषित करते हैं, वाग्व्यापार कहकर अलौकिक रमणीयता से काव्य में प्रमुखता का आग्रह करते हुए वामन रीति को

---

1. ध्वन्यालोक, 1/3 की वृत्ति.
2. ध्वन्यालोक, 3/33 की वृत्ति.
3. वही, 1/4.
4. अलङ्कार सर्वस्व, भूमिका भाग ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आत्मा निर्धारित करते हैं, वही उक्ति वैचित्र्य व्यङ्ग्यार्थ रूप में होकर ध्वनि का आनन्दवर्धन द्वारा काव्य का जीवातु सिद्ध हो गया ।[1]

अतः यह जीवातुभूत प्रतीयमान अर्थ लौकिक तथा काव्य व्यापार गोचर होने के कारण दो प्रकार का कहा गया है । यह लौकिक व्यापार वस्तु तथा अलङ्कार के वैभिन्य से दो प्रकार का कहा गया, जो स्वशब्दवाच्य भी हो सकता है, तथापि द्वितीय भेद (काव्य व्यापार गोचर) स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य न होने के कारण सहृदय के हृदय में स्थायित्व प्राप्त तथा संस्कार रूप में स्थित रस रूप में होने के कारण रस ध्वनिरूप काव्यात्म कहा गया ।[2]

(iv) इसके अनन्तर वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने अलङ्कार सम्प्रदाय का ही विकसित तथा सुदृढ़ सुष्ठु रूप वक्रोक्ति काव्यात्म विवेचन में स्थापित किया है । उन्होंने व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता को निरर्थक बतलाते हुए ध्वनिवादी आचार्यों के मत को खण्डित करके आनन्दवर्धन द्वारा किये गये ध्वनिभेदों के उदाहरणों को वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों में परिगणित किया है ।

यद्यपि भामह ने वक्रता का अभिधान आवश्यक माना पर वक्रोक्ति का मूलाधार शब्द तथा अर्थ की चमत्कृति निर्धारित किया था तथा दण्डी ने स्वभावोक्ति से इतर उपमादि सभी अलङ्कारों का वक्रोक्ति रूप ही माना था ।[3] परन्तु भामह की वक्रोक्ति का संकेत अभिधागम्य है, जबकि आचार्य वामन वक्रोक्ति का स्थल सादृश्यमूलक लक्षणा में निर्धारित करते हैं--'सादृश्यात्लक्षणा वक्रोक्तिः'[4] तथा आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति शब्द तथा अर्थ के सहभाव से मित्रों की संगति की भाँति परस्पर शोभाकारक है--

'समसर्वगुणौ संगो सुहृदाविव संगतौ ।
परस्परं शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥'[5]

शब्दार्थ के सहभाव से ही वाणी का सौन्दर्य द्विगुणित होकर चारुता उत्पन्न करता है--

'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः ।'

ध्वनिवादी आचार्यों ने जिस प्रकार प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि हेतु वाच्य तथा व्यङ्ग्य तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया, उसी प्रकार कुन्तक भी वक्रोक्ति की सिद्धि हेतु अलङ्कार तथाअलङ्कार्य का आधारधेय रूप स्वीकार करते हैं--

---

1. उक्तिवैचित्य जीवितं काव्यं न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्
अलङ्कारसर्वस्व, भूमिका भाग
2. ध्वन्यालोक, 1/1 पर टीका।
3. वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः निकीर्णपर्यन्ता । उच्यन्ते ।
--काव्यादर्श, 2/8.
4. काव्यलङ्काररसूत्र, 4/3/8 की वृत्ति।
5. वक्रोक्ति जीवित, प्रथम उन्मेष.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ॥[1]

वक्रोक्तिकार की नितान्त स्पष्ट धारणा वर्ण से प्रबन्ध पर्यन्त गुणरसरूप सौन्दर्य तथा अर्थ वैचित्र्यरूप वक्रता को काव्य में अन्तर्भुक्त करके उसका क्षेत्र विस्तार प्रस्तुत करने की है ।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक भामह की अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति रूप अभेद नीति से विसंवाद नहीं रखते हुए भी उन्हीं आचार्यो के काव्य तत्त्व से प्राप्त वक्रोक्ति का ही अग्रिम विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत करते दृष्टिगत होते हैं । भामह जिसे 'वाचामलङ्कृति' कहते हैं उसे ही कुन्तक विचित्र अभिधा में स्थापित करते हुए वैदग्ध्य भङ्गी भणिति के रूप में व्याख्यायित करते हैं । अतः वर्ण विन्यास रूप लघु मात्रा से प्रबन्ध वक्रता रूप महत् मात्रा तक शब्द तथा अर्थ के समान उपस्कारक वक्रोक्ति का व्यापकत्त्व सिद्ध करते हुए कुन्तक उसे आत्मपद पर अभिषिक्त करते हुए "वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्" कहकर काव्यात्मा स्वीकार करते हैं ।

यद्यपि मम्मट, हेमचन्द्र, जयदेव, केशवमिश्र, वाग्भट्ट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार के वैशिष्ट्य के रूप में प्रतिपादित किया है, तथापि कुन्तक का यह सिद्धान्त " लोकोत्तर चमत्कार कारि वैचित्र्य सिद्धये" का आलाप करता हुआ अपने आप में अक्षुण्ण गरिमा का आधायक है ।

(v) काव्य की स्वाभाविकता औचित्य सम्प्रदाय का बीज है । यद्यपि 'औचित्य' नाट्यशास्त्र में वेश आदि के उचित निर्देश के अनुकरण का संकेत तथा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में रसौचित्य के प्रसंग में विस्तृत रूप में प्राप्त होता है, तथापि सर्वप्रथम रुद्रट ने औचित्य के व्यापक महत्त्व का वर्णन करते हुए अलङ्कारों के प्रयोग में औचित्य का मानदण्ड स्वीकार किया हैं । इसके पूर्व भामह तथा दण्डी ने गुण तथा दोष का विभाजन औचित्य तथा अनौचित्य द्वारा ही किय है । आनन्दवर्धन ने भी रसौचित्य, अलङ्कारौचित्य वर्णौचित्य,संघनौचित्य, प्रबन्धौचित्य, रीत्यौचित्य के सतत् निर्वाह को आवश्यक माना है । अतः क्षेमेन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा नाट्य/काव्य में स्वाभाविक संगठन को ही काव्य का जीवातु सिद्ध करते हुए काव्य के प्राण रूप में प्रति ष्ठापित किया है । उन्होंने औचित्य के 28 अंग मानकर उन्हें शब्द, काव्यशास्त्रीय तत्त्वों, परिस्थिति तथा चरित्र से सम्बन्धित माना है । उन्होंने आत्मा तथा प्राण के भेद के सदृश रस तथा औचित्य का अन्तर स्वीकार किया है। उनके अनुसार रस यदि काव्य की प्राण प्रतिष्ठा में समर्थ होता है तो औचित्य उसे पारे से शुद्ध की गयी धातु के सेवन से चिर यौवन शील युवक के सदृश चिर स्थायित्त्व प्रदान करता है-

"रसेन श्रङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्ये धातुवाद रससिद्धेऽपि एक-तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः । औचित्य स्थिर विनश्वर जीवितं काव्यस्य । तेन विना अस्य गुणालङ्कारयुक्तस्याऽपि निर्जीवितत्त्वात् ।" अतः उनके अनुसार औचित्य ही काव्य में चमत्कार का जनक तथा रस का प्राणभूत तत्त्व होने के कारण काव्य जीवित है । तथा उस औचित्य गुण का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है--

---

1. वक्रोक्ति जीवित, 1/6

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं ये न पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान जीवितम् ॥[1]

परन्तु उसे पूर्णतया व्यवस्थित करके व्यापक स्तर पर काव्यात्म निर्धारित करने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है ।

अलङ्कार सम्प्रदाय

'रसौ वै सः' लिखकर रस को ब्रह्मसंज्ञक कहा गया है, परन्तु अध्यात्मवादी आचार्यों ने भी 'अलम्' को ब्रह्म से संपृक्त कर अलङ्कारों को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप कहकर अलङ्कार रहित काव्य में काव्यत्व का अभिनिवेश दुर्लभ माना है । अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह ने सर्वप्रथम काव्यत्व के मूल में वक्रतारूप अलङ्कार की प्रतिष्ठा करके उसे काव्य का सर्वस्व मानकर अलङ्कार सम्प्रदाय का सूत्रपात किया । उनके अनुसार "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" काव्य का स्वरूप है; तथापि 'लोकातिक्रान्त गोचरं वचनं वक्रोक्तिः'[2] ही उसके काव्यत्व का अनुप्राणक हेतु है । अतः वक्र शब्द तथा वक्र अर्थ के सहभाव से ही शब्दार्थ समन्वित काव्य की निर्मिति होती है ।

'वाचा वक्रार्थ शब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ।'[3]

इस प्रकार भामह द्वारा प्रवर्तित अलङ्कार सम्प्रदाय के विस्तारक के रूप में आचार्य दण्डी ने अलङ्कारों का वर्चस्व प्रतिपादित करते हुए अतिशयोक्ति अलङ्कार को काव्य का निकष निर्धारित किया। भामह उभयालङ्कारों को महत्त्व देते हैं ।[4] परन्तु दण्डी का आग्रह अर्थ की ओर अधिक प्रतीत होता है ।[5] वे सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति आदि सभी तत्त्वों को अलंङ्कार में ही आत्मसात् करके अलङ्कारों का अङ्गित्त्व प्रतिपादित करते हैं--

"यद्य सन्ध्यङ्गवृत्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे
व्यावर्णितमिदं चेष्टामलङ्कारतयैव नः ॥"[6]

इस प्रकार दण्डी काव्य का शोभाधायक धर्म अलङ्कार ही मानते हैं ।

इसके अनन्तर पर्यायोक्त, समासोक्ति आदि अलङ्कारों में प्रतीयमान व्यङ्ग्य को वाच्य का

---

1. वक्रोक्ति जीवित, 1/53.
2. भामह, काव्यलङ्कार ।
3. वही,
4. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टद्वयं तु नः । वही, 1/15
5. शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली ।
इष्टाः अभिलषिताः सरसतया मनोहरतया च वर्णयितुमुद्दिष्टाः ये अर्थाः
कविप्रतिभाप्रतिफलिताः सुन्दराः पदार्थाः तैर्व्यवच्छिन्ना युक्ता
पदावली शब्दसमूहः शरीरं काव्यशरीरम् ।
काव्यादर्श, 1/10.
6. वही, 2/367.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपस्कारक मानकर अलङ्कारों का प्राधान्य सिद्ध करने वाले आलङ्कारिक उद्भट (800 ई०) भी अलङ्कारों का ही प्राधान्य सिद्ध करते हैं । इन्होंने अलङ्कारों के अन्तर्गत ही रसवत् ऊर्जस्वी तथा समाहित आदि का अन्तर्भाव करके अलङ्कारों का ही अन्यापेक्षया वर्चस्व सिद्ध किया है । तत्पश्चात् 9वीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट का प्रादुर्भाव अलङ्कार सम्प्रदाय के एक विशिष्ट अध्याय के रूप में हुआ है । अपने पूर्ववर्ती उद्भट द्वारा रसवत् आदि को अलङ्कारों में अन्तर्भूत न करके रस की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हुए भी आचार्य रुद्रट अलङ्कारों का ही प्राधान्य सिद्ध करते हैं । उन्होंने भामह की वक्रोक्ति तथा दण्डी के अतिशयोक्ति का व्यापकत्व सिद्ध करते हुए सर्वप्रथम अलङ्कारों को वास्तव औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के आधार पर विभक्त किया है तथा 50 अलङ्कारों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करके अलङ्कारों का ही प्राधान्य सिद्ध किया है ।

ग्यारहवीं शती में आचार्य भोज ने ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी भामह, दण्डी, रुद्रट आदि अलङ्कारवादी आचार्यों की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए काव्यशोभाकरत्व को अलङ्कारों का सामान्य लक्षण निर्धारित करते हुए रस को ही अलङ्कार रूप मानकर[1] अलंकार के वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति रूप त्रिविध भेद किये हैं ।[2]

इसके अनन्तर चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव ने काव्य के सर्वस्व अलङ्कारों के प्रति मम्मट के दृष्टिकोण 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि का उपहासात्मक खण्डन करके अलङ्कारहीन काव्य को अनुष्ण अग्नि के सदृश मानकर अलङ्कारों को काव्य का प्रधान तत्त्व सिद्ध किया है ।

परवर्ती अलंकारशास्त्रियों ने रस को प्राधान्य देकर भी अलङ्कारों का सूक्ष्म तथा तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करके उसे अस्थिर धर्म के रूप में स्वीकार किया है । यद्यपि ध्वनिवाद के प्रवर्तन तथा ध्वनितत्त्व के काव्यात्म रूप मे प्रतिष्ठापन के पश्चात् अलङ्कार कटक कुण्डल आदि की भाँति शब्दार्थ के अस्थिर धर्म होकर प्रधानभूत ध्वनितत्त्व के उपस्कारक के रूप में प्रतिपादित होने लगे । काव्य के जीवातु के रूप में अलंकार सिद्धान्त के विषय में परवर्ती आचार्यों में यद्यपि नकारात्मक दृष्टिकोण रहा; तथापि अलङ्कारों का प्रतिपादन परवर्ती आचार्यों ने अधिक सूक्ष्म रूप में करते हुए उनकी संख्या 120 तक पहुँचा दी ।[3] जिसे पण्डितराज ने 70 अलङ्कारों तक नियत कर दिया ।

इस प्रकार अलङ्कार का विवेचन दो प्रकार से किया गया है--

1. काव्य के सर्वस्व के रूप में; तथा
2. काव्य के अस्थिर धर्म के रूप में ।

---

1. अयुक्तं त्विदमुक्तं रसानामलङ्कारतेति, तेषां गुणानामिव अलङ्कारव्यपदेशाभावात् नायुक्तम् ।
--सरस्वतीकण्ठाभरण,

2. त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति ।
तत्रोपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः
विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रससोक्तिरित ।
शृङ्गार प्रकाश

3. विस्तृत विवरण अलङ्कार सम्बन्धी अध्याय में विवेचित है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलङ्कार शब्द की दोनों ही व्युत्पत्तियाँ- 'अलङ्करोतीति अलङ्कारः' अथवा 'अलङ्क्रियते अनेनेत्यलङ्कारः' अलङ्कार को सौन्दर्य का हेतु स्वीकार करती है, तथापि प्रथम व्युत्पत्ति में उसका कर्त्ता रूप तथा द्वितीय व्युत्पत्ति में उसका मात्र साधनत्व प्रकट होता है ।

(i) इस प्रकार 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ' को मानने वाले आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट तथा प्रतीहारेन्दुराज प्रमुख हैं । भामह को सम्पूर्ण काव्यगत सौन्दर्य वक्रोक्ति में ही दृष्टिगत होता है । वह वक्रोक्ति अलङ्कार रूप ही कही गयी है--

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽन या विना ।।[1]

वहीं दण्डी ने इसे आद्या अलङ्कृति मानकर स्वभावोक्ति अलङ्कार को काव्य का सर्वस्व माना है--

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ।।[2]

यही स्वभावोक्ति वैदर्भी का प्राण कही गयी है, जिसे परवर्ती वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर काव्यात्म के पद पर अभिषिक्त किया है । वामन ने भी सौन्दर्य को ही अलङ्कार मानकर[3] उसमें काव्य की समग्र रमणीयता प्रतिपादित की है ।[4] सौन्दर्य जो गुण तथा अलङ्कारों से संस्कृत होकर ही अपने इष्ट अर्थ को परिव्यक्त करने में समर्थ हो सकता है ।

इस प्रकार गुण को काव्य का नित्य धर्म प्रतिपादित करते हुए भी वह उसके अतिशयत्व हेतु का दायित्व अलङ्कारों को ही सौंपते हैं ।[5] जिसे परवर्ती भोजराज सरस्वती कण्ठाभरण में 'तत्र काव्यशोभाकरानित्यनेन श्लेषोपमावद् गुणरस भावतदाभास प्रशमादीनप्युपगृह्णन्ति[6] कहकर व्याख्यायित करते हैं ।

(ii) परवर्ती मम्मट आदि ने 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कारों की वैकल्पिक स्थिति मानकर उन्हें गौण स्थान प्रदान किया । अब वह पूर्व आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रधान तत्त्व के रूप में संकेतित होने लगा--

'तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।[7]

आचार्य आनन्दवर्धन ने उसे वाच्य तथा वाचक पर आश्रित बतलाकर ध्वनितत्त्व का उपकार

---

1. भामह, काव्यालङ्कार, 3/85.
2. दण्डी, काव्यादर्श, 2/8.
3. सौन्दर्यमलङ्कारः ।
4. अलङ्कृतिरलङ्कारः करणव्युत्पत्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमू उपमादिषु वर्तते ।
---वामन, काव्यालङ्कार सूत्र, 1/1/2 की वृत्ति
5. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।
--काव्यालङ्कार सूत्र 3/1/1,2.
6. भोज, सरस्वती कण्ठाभरण।
7. रूय्यक, अलङ्कार सर्वस्व.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के कारण उसका अङ्ग रूप में प्रतिपादन किया है । ध्वन्यालोक की टीका में अभिनवगुप्त ने भी अलङ्कारों तथा गुणों को वाच्य वाचक पर आश्रित मानकर उसका स्वरूप नियत किया ।

मम्मट[1] तथा विश्वनाथ[2] ने भी अलङ्कार को कटक, कुण्डलादि के सदृश काव्य के अस्थिर धर्म तथा गौणरूप माना । पण्डितराज जगन्नाथ ने न केवल अलङ्कारों को शब्दार्थ का अस्थिर धर्म माना अपितु वाच्यार्थ के सौन्दर्य मात्र का कारण कहकर उसे सर्वथा न्यून स्थान प्रदान किया--

'अलङ्कारा हि वाच्यसौन्दर्यसारः प्रायशः स्वान्तर्गतं प्रतीयमानं पृष्ठतः कुर्वन्ति ।[3]

अस्तु यद्यपि परवर्ती काल में अलङ्कार काव्य का जीवनाधायक नहीं बन सका तथापि उत्कर्षाधायक तत्त्व के रूप में उसकी स्थित निर्विवाद स्वीकार्य है । जिसे आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने व्यङ्ग्य के प्राधान्य के कारण अलङ्कार ध्वनि तथा कुन्तक ने विचित्र अभिधा कहकर वक्रोक्ति के रूप में स्वीकार किया है । इसी भाँति क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य के 28 भेद-प्रभेदों में अलङ्कारों का भी औचित्यगत प्रतिपादन किया है ।

रीति सम्प्रदाय

यद्यपि भामह ने काव्यस्वरूप के विवेचन में मार्ग प्रवृत्ति का प्रयोग किया है किन्तु आठवीं शती में प्रादुर्भूत वामन ने सर्वप्रथम मार्ग के लिए रीति शब्द का प्रयोग करते हुए 'रीतारात्मा काव्यस्य' लिखकर रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया ।

वामन के मत में अलङ्कार सौन्दर्य का अपर नाम हो गया तथा गुण नित्य धर्म होकर अलङ्कारों की अपेक्षा उत्कृष्ट हो गये । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आलङ्कारिक भामह की वक्रोक्ति तथा दण्डी की स्वभावोक्ति को अलङ्कार रूप में मानकर गुणात्मा रीति को ही सर्वस्व प्रतिपादित किया तथा भामह द्वारा प्रवर्तित वैदर्भी, गौडी के स्वरूप को गुणों के आधार पर विभक्त करते हुए वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली इन त्रिविध रीतियों का विवेचन किया ।

आचार्य रुद्रट ने भी पदसंघटनापरक रीति का विवेचन करते हुए उसमें लाटीया नामक एक और भेद सम्मिलित करके उनकी संख्या चार कर दी । इस प्रकार रीति को समासाश्रित माना गया--

1. वैदर्भीसमासरहित
2. पाञ्चालीअल्पसमास
3. लाटीमध्यमसमास
4. गौडीदीर्घसमास

आनन्दवर्धन उसे 'शब्दसंघटनाधर्मा रीति' कहकर रसाश्रित मानते हैं तथा अभिनवगुप्त ने उसे दीप्ति, ललित और मध्यम गुण पर आधृत माना है । वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने

---

1. काव्यप्रकाश, 8/67.
2. साहित्यदर्पण, 10/1.
3. रसगङ्गाधर,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी रीति को कवि का स्वभावगत वैशिष्ट्य मानकर उसके सुकुमार, विचित्र, मध्यम तथा उभयात्मक भेद स्वीकृत किये है ।

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥[1]

रीतित्रयवाद रुद्रट तथा विश्वनाथ द्वारा चार रीतियों में परिवर्तित हो गया जिसे भोज ने 'षोढा रीति' कहकर छः रीतियों तक पहुँचा दिया ।[2]

भामह से लेकर पण्डितराज तक रीति की काव्य में स्थिति किसी न किसी रूप में स्वीकार की जाती रही है । आनन्दवर्धन ने गुणाश्रित तथा रसोन्मुखी रीति को ध्वनितत्त्व की परम सहयोगी मानकर उसे संघटना नामाभिहित किया है । परवर्ती अमृतानन्द योगी ने रीति के इसी स्वरूप को देखकर पुनः उसे काव्यात्म कहकर सम्बोधित किया ।[3] परन्तु रीति के स्वरूप का पूर्णतया निर्धारण हो जाने के पश्चात् उनका यह आग्रह महत्त्व का नहीं रहा ।

इस प्रकार रीति शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है--

(क) रीयन्ते गच्छन्ति अस्यां गुणा इति ।

अर्थात् जिसमें गुणों का आधान हो ।

(ख) रीयतेक्षरति अस्यां वाङ्मधु धारेति । अर्थात् जिसे कविवाग् का माधुर्य परि स्रवण करता है, वह रीति है । भोजराज ने रीति शब्द की व्युत्पत्ति सरस्वती कण्ठाभरण में इस प्रकार दिया है--

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

स०क० 2.51.

इस प्रकार वामन विशिष्य पदरचना रीतिः' विशेषो गुणात्मा[4] कहकर गुणों को काव्य का नित्य धर्म घोषित किया तथा वही गुणो से भूषित विशिष्ट पद विन्यास ही रमणीयतारूप परम सौन्दर्य को प्राप्त होकर काव्यात्मा पद पर अभिषिक्त हो गया । उनके मत में अलङ्कार भी गुणों के समीपवर्ती तथा सहयोगी सिद्ध हो गये । वामन ने गुणों के दो वर्ग माने हैं-- शब्द गुण तथा अर्थ गुण । इस प्रकार वे शब्द तथा अर्थ के समान चमत्कार से विशिष्ट पद संरचना को ही रीति मानते हैं । अतः उनका गुण व्यापक परिधि प्राप्त करता है । उन्होंने समग्र अर्थ गुण को वैदर्भी रीति में सन्निविष्ट किया ।[5] अस्तु, उनकी रीति यदि काव्यात्म है तो काव्यात्म का मुख्य प्राण तत्त्व वैदर्भी ही कही गयी । उसी वैदर्भी में समस्त विशिष्टताएं प्रविष्ट होकर अलौकिक चमत्कृति उत्पन्न करती हैं--

---

1. वक्रोक्तिजीवितम् ।
2. रीति सम्बन्धी अध्याय में विस्तृत विवेचन दृष्टव्य ।
3. अलङ्कार सङ्ग्रह, 5/1.
4. काव्यालङ्कार सूत्र, 1/2/7-8.
5. सापीयमर्थगुण सम्पद् वैदर्भीत्युक्त ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'उदयति हि सक्काऽपि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां संज्ञकः कोऽपि पाकः ॥'

परवर्ती काल में रीति काव्यात्मा के पद पर अभिषिक्त नहीं हो सकी तथापि पदसंघटना तथा अवयव संस्थानवत् रीति का अस्तित्व निर्विवाद बना रहा । आनन्दवर्धन ध्वनिवादी आचार्य हैं फिर भी उन्होंने रीति को मात्र पद संघटना तक ही सीमित रखकर इसी पद संघटना के मुख्य धर्म गुण को रस के उपस्कारक के रूप में स्वीकार किया है । परवर्ती भोज ने उसे और अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है ।

आचार्य मम्मट ने वाच्य, अर्थ, प्रबन्धौचित्य के आधार पर रीति का चयन बतलाकर उसे उत्तम स्थान प्रदान किया--

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथा स्वमपीष्यते ॥[1]

अतः रीति का विवेचन दो रूप में किया जा सकता है---

(क) गुणाश्रित काव्यात्मा रीति, तथा

(ख) अवयव संस्थान के रूप में रस की उपस्कारिणी ।

प्रथम वर्ग में आचार्य वामन का उल्लेख किया जाता है । द्वितीय वर्ग में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति का । इन्होंने गुण को रस का उपकारक मानकर उसकी व्याख्या की है । रुद्रट ने सर्वप्रथम रसों के अनुसरण पर रीतियों का विभाजन किया था । उन्होंने मुख्यतः गुणों के आधार पर तथा गौणरूप से समास के आधार पर उसका विवेचन किया था । आनन्दवर्धन इसे ही व्यापक रूप प्रदान करके न केवल इसे समास के अनुसार विश्लेषित करते हैं अपितु समास को वाह्य तत्त्व मानकर माधुर्यादि गुणों की रीति का आन्तरिक तत्त्व निर्धारित करते हैं।[2] समन्वयवादी आचार्य मम्मट ने भी उसे वर्णों में रहने वाला रस विषयक व्यापार कहकर सम्बोधित किया–

"वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः ।"[3]

आचार्य विद्याधर उसे 'रसोचित शब्दार्थ निबन्धन रीतिः' कहकर पूर्वाचार्यों का ही अनुसरण करते हैं ।

"पदसङ्घटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्
उपकर्त्रीरसादीनाम्———— ॥"[4]

कहकर आनन्दवर्धन के पश्चाद्वर्ती सभी आचार्यों ने (अमृतानन्द योगी को छोड़कर) उसे

---

1. काव्यप्रकाश 8/77.
2. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । ध्वन्यालोक, 3/6
3. काव्यप्रकाश, 9/79.
4. साहित्यदर्पण, 9/1.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहकर आनन्दवर्धन के पश्चाद्वर्ती सभी आचार्यों ने (अमृतानन्द योगी को छोड़कर) उसे रसोपकारी तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है ।

ध्वनि सम्प्रदाय

काव्यात्म अन्वेषण के क्रम में रीतिवाद के प्रवर्तन के पश्चात् आचार्य आनन्दवर्धन के व्यञ्जना व्यापार पर आश्रित प्रतीयमान ध्वनि तत्त्व की स्थापना के साथ ही ध्वनि सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जो अपने उत्पत्तिकाल में ही प्रबल विरोध का सामना करता हुआ भी अन्ततः मुख्य काव्यतत्त्व के रूप में प्रख्यात हुआ । परवर्ती प्रतीहारेन्दुराज, कुन्तक, भट्टनायक, धनञ्जय तथा धनिक आदि न व्यञ्जना व्यापार का ही खण्डन करके ध्वनितत्त्व को स्वीकार नहीं किया; तथापि मम्मट के काव्यप्रकाश में ध्वनितत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित काव्य सिद्धान्त के रूप में काव्य का अभिधान प्राप्त होने लगा । शेष रीति आदि उसके अवयव संस्थान बनकर उसी का समर्थन तथा पोषण करते हुए ध्वनि के अङ्ग अथवा साधन बन गये ।

व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक सम्बन्ध पर प्रतीयमान ध्वनि सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त पर आधृत है । जिस प्रकार नाद तथा स्फोट के मध्य व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार श्रूयमाण वर्ण ही ध्वनि का मूल कहा गया है--

'ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः ।'

उन्होंने ग्रन्थारम्भ में ही अपने प्रतिपाद्य ध्वनितत्त्व की स्थापना करते हुए लिखा है--

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगुदरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितममविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥

अतः यहाँ निषेध तथा विधिपरक रूप में उन्होंने ध्वनि तत्त्व का प्रवर्तन किया । यहाँ निषेध रूप में अभाववादी, लक्षणावादी तथा अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों का मन्तव्य विवेचित है । अर्थात् 'तस्याभावः' कहने वाले अभाववादी आचार्यों में महिमभट्ट, प्रभाकर भट्ट, मुकुल भट्ट आदि प्रमुख हैं । 'भाक्त माहु'; से ध्वनि को लक्षणागम्य मानने वाले आचार्य कुन्तक का संकेत प्राप्त होता है । अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों में सहृदय दर्पण के रचयिता तथा भुक्तिवाद के प्रवर्तक भट्टनायक अग्रणी हैं; तथा विधि रूप में वैयाकरणों के स्फोटवाद पर आधृत ध्वनितत्त्व का अस्तित्व विद्यमान है (समाम्नात पूर्वः) । इस प्रकार आनन्दवर्धन ग्रन्थ के आरम्भ में ही 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस विधिवाक्य की स्थापना करके अन्ततः अपने समस्त सम्भावित विरोधों को खण्डित करते हुए 'अस्ति ध्वनिः' के रूप में उसे प्रतिस्थापित करते हैं ।

ध्वनि सिद्धान्त को स्थापित करने के पश्चात् उसका स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं कि जहाँ अर्थ अपने को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण करके किसी अर्थान्तर विशेष को व्यक्त करता है, वह काव्य विशेष ध्वनि काव्य के रूप में विद्वानों द्वारा समादृत है--

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः ।।'[1]

यहाँ 'सः ध्वनिः' शब्द की व्याख्या में अभिनव गुप्त ने उसे अधोलिखित अनुच्छेद में व्यापक महत्त्व प्रदान किया है--

"अर्थो वा, शब्दो वा, व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्योवा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यते इति व्यापारो वा शब्दार्थ यो ध्वनेनमिति कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् ।"[2]

इस प्रकार ध्वनि की अनेक व्याख्यायें करके वह अन्ततः, 'शब्दे, अर्थे, व्यापारे, व्यङ्ग्ये समुदाये च' लिखकर ध्वनि की पंचधा व्याख्यायें प्रतिपादित करते हैं--

1. ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः । (व्यञ्जक शब्द)
2. ध्वनयति यः स व्यंञ्जको ऽर्थ : ध्वनिः । (व्यञ्जक अर्थ)
3. ध्वन्यते इति ध्वनिः । (व्यङ् ग्य अर्थ)
4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः । (व्यञ्जना व्यापार)
5. ध्वन्यते ऽस्मिन्निति ध्वनिः । (व्यङ् ग्य प्रधान काव्य)

आचार्य मम्मट ने सम्पूर्ण काव्य को ही ध्वनि के आधार पर विभाजित करके वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक व्यङ्ग्यरूप चमत्कार के आधायक ध्वनि तत्त्व को श्रेठ काव्य कहा है । अतः व्यञ्जना व्यापार पर आधृत प्रतीयमान अर्थ को ध्वनन, द्योतन व्यञ्जन आदि नामों से भी उद्धृत करते हुए लावण्ययुक्त रमणी में स्थित लज्जा की भाँति महा कवियों की वाणी का स्थिर धर्म माना गया है--

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषाभूषा लज्जैव योषिताम् ।।[3]

---

1. ध्वन्यालोक, 1/13 ।
2. ध्वन्यालोक, 1/13 पर लोचन टीका ।
3. ध्वन्यालोक, 3/38.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्वनि तत्त्व के समस्त भेद प्रभेद निम्न सारणी में दृष्टव्य है--

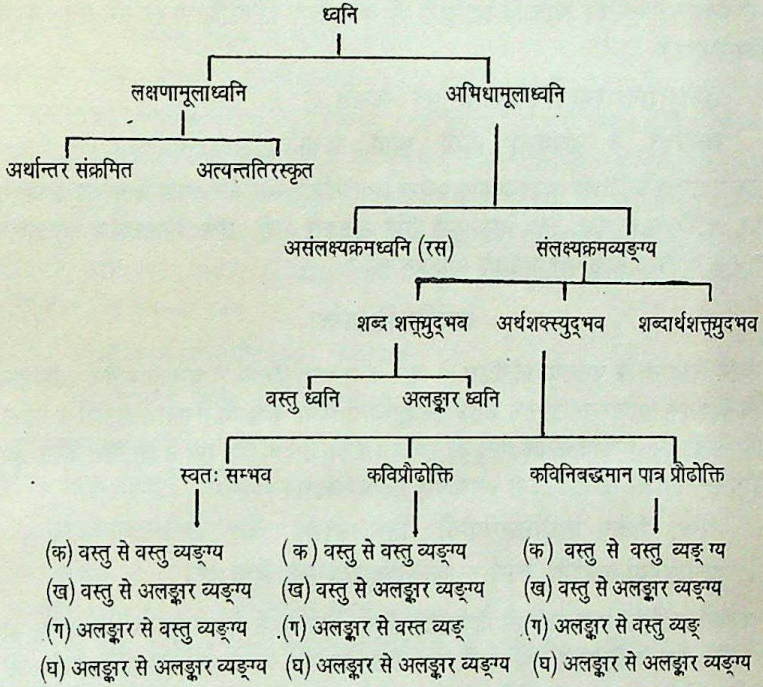

अभिनवगुप्त ने ध्वनि के 7420 भेद तथा आचार्य मम्मट ने 10455 भेद माने हैं । विश्वनाथ ने समन्वयात्मक दृष्टि से इसके 535 भेदों का परिगणन किया है ।

इस प्रकार आचार्य मम्मट, रुय्यक, विधाधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इसी सिद्धान्त को व्यापक रूप में स्वीकार किया है ।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की है, तथा रीति तथा गुण को ध्वनि के अङ्ग बतलाकर उसकी स्वायत्तता का खण्डन करके उसे ध्वनि की चारुता का हेतु अथवा साधन के रूप में प्रतिपादित किया तथा गुणों को रीति की आत्मा कहने वाले रीतिवादी वामन के सिद्धान्त को खण्डित करके उसे गुण को रीति से असम्बद्ध कहकर गुणों का अनिवार्य सम्बन्ध रस से स्थापित किया ।[1] इस प्रकार गुण सिद्धान्त को अभिधामूल ध्वनि में अन्तर्भूत करके माधुर्य गुण को श्रृङ्गारादि का व्यञ्जक कहा है[2] तथा भामह से लेकर रुद्रट पर्यन्त अलङ्कारों के बढ़े हुए वर्चस्व को समाप्त करके

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
2. श्रृंगार एव मधुरो पर प्रह्लादनो रसः
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतिष्ठति ।। ध्वन्यालोक, 2/7

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे जीवातुभूत न मानकर रूपकादि अलङ्कारों की रसोन्मुखता प्रतिपादित करके उसे उत्तम काव्य का विषय माना है--

'अलङ्कारान्तरस्याऽपि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्त्वे न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥'

इस प्रकार के ध्वनितत्त्व अपने व्यापक वर्चस्व तथा विशिष्ट स्थायित्व क्षमता के कारण काव्यात्म पद पर अभिषिक्त हो गया, तथा अन्य गुण रीति अलङ्कार आदि उसके शोभावर्द्धक हेतु होकर वाच्यार्थ के पोषक होने के कारण उसके अङ्ग बन गये ।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात् कुन्तक ने चारुत्वाधायक प्रतीयमान अर्थ के व्यञ्जना व्यापार का खण्डन करके अलङ्कारवादी भामह के काव्य से प्राप्त अलङ्कारों के सर्वस्व वक्रोक्ति में ही पुनः चारुत्वाधायक तत्त्व की गवेषणा करके उसे व्यापक रूप से प्रतिष्ठित करते हुए वक्रोक्ति सम्प्रदाय का सूत्रपात किया । यद्यपि भामह ने सर्वप्रथम

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो' विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य : कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥"[1]

कहकर वक्रोक्ति के महत्त्व को उद्घाटित किया तथा दण्डी ने समस्त काव्य वाङ्मय को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो वर्गों में विभक्त करके वक्रोक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करके उसे लोकसीमावर्तिनी कहकर अलङ्कारों में सर्वोत्कृष्ट कहा है । आचार्य आनन्दवर्धन ने भी पूर्व प्रतिपादित वक्तोक्ति को अतिशयोक्ति कहकर वाच्यरूप में प्रतीत अतिशयोक्ति को अर्थालङ्कार तथा व्यङ्ग्य रूप में प्रतीयमान अतिशयोक्ति को गुणीभूत व्यङ्ग्य अथवा ध्वनि में स्थान दिया है; तथापि कुन्तक उसे व्यापक अर्थ प्रदान करके 'वक्र कवि व्यापार शालिनि' कहकर सम्बोधित करते हैं तथा 'वैदध्यभङ्गी भणिति' कहकर वक्रोक्ति में ही चमत्कार तथा चारुता के संचार का उपाख्यान करते हैं । इस प्रकार भामह की जो वक्रोक्ति मात्र अलङ्कारों की चारूतातथा सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में थी[2] तथा वामन की 'साहश्यात्लक्षणा वक्रोक्तिः'[3] थी वही आगे चलकर कवि कौशल रूप तथा स्वयं अलङ्कृत शब्दार्थ के रूप में व्यवस्थापित हो गयी--

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥'[4]

---

1. काव्यालङ्कार, 2/85
2. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः । काव्यालङ्कार, 1/36.
3. वामन, काव्यालङ्कार सूत्र, 4/3/8.
4. वक्रोक्ति जीवित, 1/7.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार यद्यपि कुन्तक की वक्रोक्ति विचित्र अभिधा रूप है; परन्तु वह वक्रोक्ति भामह, दण्डी तथा वामन द्वारा निर्धारित अलङ्कारों की शोभाधायक चारुत्त्व हेतु से भिन्न सर्वथा मौलिक तथा व्यापक तत्त्व के रूप में 'वक्रोक्ति जीवित' में प्रतिपादित तत्त्व है । उनके मत में अलङ्कार तथा अलङ्कार्य का आधाराधेय विषयक सम्बन्ध है । यही कुन्तक की मौलिकता है । उन्होंने परम्परा विश्रुत वक्रोक्ति को ही आधार मानकर ध्वनि के समस्त भेद प्रभेदों का खण्डन करते हुए[1] उसे 'वक्रता विचित्र गुणालङ्कार सम्पदा परस्पर स्पर्धाधिरोहिता कहकर काव्य का मूलाधार स्वीकार किया है । अलङ्कृति तथा अलङ्कार में वाच्य वाच क सम्बन्ध स्थापित करते हुए कुन्तक काव्य के दो मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या करते हुए दोनों का अविभाज्यत्व प्रतिपादित करते हैं । अतः जिस प्रकार ध्वनिकाव्य में वाच्य वाचक का सम्बन्ध अपेक्षित है, उसी प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में भी अलङ्कर तथा उसके आधेय स्वरूप अलङ्कार्य-वक्रोक्ति की सिद्धि हेतु कहे गये--

"अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ।।"[2]

इस प्रकार एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध अभिन्न काव्य के मूल में वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरूप वक्रोक्ति का निवास स्वतः रहता है ।[3] वैदग्ध्यभङ्गी भणिति की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं--

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।।

"वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । की दृशी ? वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धु भावः कविकर्म कौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः तया भणितिः । वैचित्र्याभिधा वक्रोक्ति रित्युच्यते ।"[4]

आचार्य कुन्तक स्वभावोक्ति को ही समस्त वाङ्मय के भार वहन का दायित्व सौंपने वाले दण्डी के मत का खण्डन करके मूलतः स्वभावोक्ति को भी अलङ्कार मानना हास्यापद मानते हैं । यदि स्वभावोक्ति ही अलङ्कार है तो अलङ्कार्य किसे कहा जायेगा--

'अलङ्कारकृतायेषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ।।'[5]

---

1. प्रकाश स्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्
तथानैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम् ।
गुणाध्यासाभ्यासा व्यसनदृढ़दीक्षागुरुगणो
रवि व्यायारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः ।।
वक्रोक्ति जीवित
2. वक्रोक्ति जीवित, 1/6.
3. वक्रोक्ति जीवित 1/10.
4. वही, प्रथम उन्मेष.
5. वक्रोक्ति जीवित, 1/11.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह रसवद् अलङ्कारों में रसों को अन्तर्भूत न करके उसे सर्वथा व्यापक तथा स्वतंत्र तत्त्व स्वीकार करते हुए रस को अलङ्कारों का प्राण स्वीकार करते हैं तथा काव्य के छः भेद करते हैं--[1]

1. वर्ण विन्यास वक्रता
2. पदपूर्वार्ध वक्रता
3. पद परार्ध वक्रता
4. वाक्य वक्रता
5. प्रकरण वक्रता
6. प्रबन्ध वक्रता

वर्ण विन्यास वक्रता के अन्तर्गत यमक अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों तथा पद पूर्वार्ध वक्रता में प्रकृति पर आश्रित वक्रता का विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत पर्याय, रूढिवैचिञ्य, उपचार, विशेषण, संवृत्ति, भाव, लिङ्ग, तथा क्रिया सम्बन्धी वक्रता का वर्णन है। पद परार्ध वक्रता के अन्तर्गत काल वैचित्र्य कारक संख्या, पुरुष, उपग्रह, प्रत्ययवक्रता सम्बन्धी विवेचन किया गया है। वाक्यवक्रता के अन्तर्गत सम्पूर्ण अलङ्कार प्रपञ्च समाहित है। प्रकरण विशेष से सम्बद्ध प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धव्यापिनी वक्रता प्रबन्धवक्रता कहलाती है।

यद्यपि भामह आदि अलङ्कारिकों ने वक्रोक्ति में ही चारुता प्रतिपादित की थी तथापि कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकृत करने वाले नगण्य ही रहे। ध्वनि तत्त्व के काव्य सर्वस्व के रूप में स्थापित हो जाने के पश्चात् "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" यह सिद्धान्त अधिक मान्य न हो सका, अपितु अपने प्रवर्तक आचार्य कुन्तक के साथ ही उनके विशिष्ट मतवाद तक ही सीमित हो गया तथा परवर्ती मम्मट आदि ने उसे शब्दों की विशिष्ट अलङ्कृति मानकर शब्दालङ्कार के रूप में परिगणित करते हुए उसे मात्र सामान्य सांकेतिक अभिधा तक सीमित कर दिया गया।

औचित्य सम्प्रदाय

भामह, दण्डी, वामन तथा रुद्रट आदि आचार्यों ने यद्यपि गुण तथा दोष के वर्णन में औचित्य की संक्षिप्त चर्चा की थी तथा आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने अनौचित्य को काव्य का सर्वाधिक प्रबल दोष बतलाकर उसे त्याज्य माना था।[2] इसी भाव को ग्रहण करके आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य

---

1. कवि व्यापार वक्रत्व प्रकाराः सम्भवन्ति षट्।
   प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ।।
   वर्णविन्यासवक्रत्वमित्यादि -------।
   वही, 1/18,19.
2. अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
   प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।
   ध्वन्यालोक, 3/14

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्त्व की व्यापक तथा व्यवस्थित चर्चा अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में करके उसे काव्य का प्राण तत्त्व घोषित किया तथा औचित्य सम्प्रदाय की उद्‌भावना की । इस प्रकार पद से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त औचित्य के संयोजन को आवश्यक मानकर उसके 27 भेद किये--

1. पद 2. वाक्य 3. प्रबन्धार्य 4. गुण 5. अलङ्कार 6. रस 7. क्रिया 8. कारक 9. लिङ्ग 10. वचन 11. विशेषण 12. उपसर्ग 13. निपात 14. काल 15. देश 16. कुल 17. व्रत 18. सत्त्व 19. तत्त्व 20. अभिप्राय 21. स्वभाव 22. सारसंग्रह 23. प्रतिभा 24. अवस्था 25. विचार 26. नाम 27. आशीर्वाद.

'सुवृत्त तिलकम्' नामक नामक अपने ग्रन्थ में क्षेमेद्र ने वृत्तपरक औचित्य का भी वर्णन करके औचित्य के कुल 28 भेद माने हैं । उन्होंने औचित्य को ही काव्य जीवित कहा है---

"अलङ्कारास्त्वङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।"[1]

इस प्रकार अलङ्कार, रीति आदि सम्प्रदायों की आलोचना करके उन्होंने अलङ्कारादि को तभी ग्राह्य माना, जहाँ उनका उचित स्थान पर सन्निवेश हो, औचित्य की मर्यादा में रहकर ही वह सहृदयश्लाघ्य हो सकते हैं, नहीं तो उनका अस्तित्व नगण्य है--

"उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।।[2]

'उचित का भाव ही औचित्य है ।'[3] क्षेमेन्द्र ने जीवन तथा आत्मा के सहभाव सम्बन्ध की भाँति रस तथा औचित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपना मन्तव्य प्रकट किया है--

औचित्यचमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारः कुरुतेऽधुना ।।"[4]

नारी अलङ्करण का दृष्टान्त प्रस्तुत करके उन्होंने कहा है कि यदि नारी अपनी अलङ्करण सामग्री में से कण्ठ में मेखला, हस्तद्वय में नूपुर तथा पदाद्वय में केयूर पहन कर आये, तो उसे कौन मूर्ख नहीं समझेगा । इसी प्रकार शरणागत पर वीरता और शत्रु पर करुणा का प्रदर्शन औचित्य की दृष्टि से सर्वथा हास्यास्पद हीं है ॥ इसी प्रकार अलङ्कार तथा गुणादि औचित्य के मुखापेक्षी है तथा वह तभी शोभावर्द्धक है, जब उन्हें उचित स्थान पर सन्निनिष्ट किया जाय--

"कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा ।

---

1. औचित्य विचार चर्चा, कारिका, 5.
2. औचित्य विचार चर्चा, 6
3. उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते-औचित्य विचार चर्चा, 7
4. वही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शौर्येण प्रणते रिपौ करूणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः ।।"[1]

यद्यपि क्षेमेन्द्र के पूर्व आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में रसौचित्य का वर्णन किया तथा अभिनवगुप्त ने "उचित शब्देन रस विषयमौचित्यं भवतीति दर्शयंन् रसध्वनेर्जीवितत्त्वं जयति । तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यते इति भावः "लिखकर औचित्य तत्त्व को काव्यात्म रस का परमोपकारी तत्त्व घोषित किया था तथा कुन्तक ने भी प्रत्येक मार्ग (रीति) के सामान्य गुण औचित्य तथा सौभाग्य को मानकर मार्गो में इसकी उपस्थिति अनिवार्य मानी है ।

एतन्निष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पद वाक्य प्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ।।
एतद् गुणद्वितयमौचित्यसौभाग्याभिधानम्।।[2]

--वक्रोक्तिजीवित 1.57

रस सम्प्रदाय

'रसो वै सः' कहकर रस से ब्रह्म का सद्भाव स्थापित करने वाली भारतीय मनीषा शब्दार्थ निष्ठ साहित्य के जीवातुभूत अनिर्वचनीय रस का महत्त्व स्वीकार करती हुई उसकी आस्वादयोग्य विलक्षण चमत्कृति का व्याख्यान करती है । यद्यपि नाट्यशास्त्र के आधाचार्य भरत के ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में रस का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है; तथापि परवर्ती अलङ्कारवादी आचार्य भामह दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट; रीतिवादी वामन, ध्वनिवादी आनन्दवर्धन और वक्रोक्तिवादी कुन्तक अपने अपने विभिन्न सिद्धान्तों के प्रतिपादन में रस के महत्त्व तथा उपादेयता को स्वीकार करते हैं । अतः रस सिद्धान्त को दो वर्गों में विश्लेषित किया जा सकता है--

प्रथम, विभिन्न सिद्धान्तों के अन्तर्गत विवेचित रस सामग्री; और द्वितीय, रस सिद्धान्त के स्वतंत्र ग्रन्थ ।

क. अलङ्कारतन्त्र प्रजापति भामह यद्यपि अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों में अग्रणी है, तथापि उन्होंने रस की अपरिहार्यता स्वीकार करते हुए उसे 'उक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्' लिखकर महत्त्व प्रदान किया तथा उसे रसवदलङ्कार में स्थान दिया ।[3]

---

1. औचित्यविचारचर्चा 7 तथा 8।
2. ध्वन्यालोक, 2/6 पर लोचन टीका.
3. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गरादिसं यथा ।
काव्यालङ्कार 3/6

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दण्डी ने रस की व्यापकता स्वीकार करके[1] प्रत्येक अलङ्कार में रस की क्षमता स्वीकृत की है ।[2] उनकी मान्यता सर्वत्र गुण विन्यास में सहयोगी रस की स्थिति स्वीकार करने की है ।[3]

आचार्य रूद्रट प्रथम आलङ्कारिक हैं, जिन्होंने रस की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिपादित की[4] तथा उन्हें रसवदलङ्कारों का विषय मानना अस्वीकार किया ।

इस सन्दर्भ में उद्भट का विचार विशेष आदरास्पद है । उन्होंने अलङ्कारों का प्राधान्य स्वीकार करके भी काव्य में रस की स्थिति को भी स्वीकार किया है ।

आचार्य वामन भी कान्ति नामक अर्थगुण के वर्णन प्रसङ्ग में रस की दीप्तता प्रतिपादित करते हैं।[5]

ध्वनि के विवेचन प्रसङ्ग में आनन्दवर्धन ने ध्वनि के क्षेत्र विस्तार के अवसर पर उसके तृतीय भेद रस ध्वनि का महत्त्व प्रतिपादित करके "काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुंरा" इत्यादि श्लोक में शोकरूप स्थायी भाव के पोषक करुण रस का दृष्टान्त देकर ध्वनि के अन्य भेदों की अपेक्षा रस ध्वनि का ही वर्चस्व स्थापित किया है ।

ध्वनिवाद के विरोधी भट्टनायक ने काव्य में रस का ही जीवितत्व प्रतिपादित किया है । ध्वन्यालोकलोचन में अभिनवगुप्त ने "काव्ये चर्वणा तावत् जीवित भूतेति भवतोऽपि अविवादोऽस्ति " लिखकर भट्टनायक के द्वारा प्रतिपादित रस के अस्तित्व का समर्थन किया है ।.

अलङ्कारवाद की पृष्ठभूमि पर विचित्ररूपा अभिधारूप वक्रोक्ति की प्रतिष्ठापना करने वाले आचार्य कुन्तक ने भी काव्य के छः भेदों में सर्वाधिक विशिष्ट प्रबन्ध काव्य की श्रेष्ठता का आधार रस निरूपित करके रस का ही अलङ्कार्य रूप स्वीकार किया ।[6]

---

1. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
   येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ।।
   काव्यादर्श, 1/51
2. कामं सर्वोऽप्ययलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति ।
   वही, 1/62
3. वाक्यस्याग्राम्यता योनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः ।
   इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।।
   वही, 2/292
4. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
   लघु मृदु च नीरसेऽभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति हि शास्त्रेभ्यः ।
   तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।।. काव्यालङ्कार, 12/1-2.
5. दीप्ति रसत्वं कान्तिः ।
   दीप्ता रसा शृङ्गारादयो यस्य स दीप्त रसः । काव्यालङ्कार सूत्र, 3/2/15
6. निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
   गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।
   वक्रोक्तिजीवित, 3/3-4.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महिमभट्ट ने व्यञ्जना व्यापार का खण्डन करके भी रस का व्यापकत्त्व स्वीकार किया[1] तथा रसात्मकता को ही काव्य का निकष माना ।[2]

औचित्यवादी आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी रस का ही श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करके उसके प्राणभूत औचित्य की प्रतिष्ठा की ।

परवर्ती भोजराज ने भी रसोक्ति नामक अलङ्कारगत तृतीय भेद में रसोक्ति की सर्वाङ्गीणता प्रतिपादित करके श्रृङ्गार का रस राजत्व घोषित किया ।[3]

(ख) यद्यपि काव्यमीमांसा में आचार्य नन्दिकेश्वर को प्रथम रसवादी आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है[4] तथापि स्पष्ट विवरण उपलब्ध न होने के कारण नाट्यशास्त्र के आद्याचार्य भरत को ही निश्चित रूप से इसका प्रवर्तक माना जा सकता है । उन्होंने नाट्यशास्त्र में नाट्य के एकादश अंगों का विवेचन करते हुए प्रसङ्गतः षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में रस का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार विभिन्न स्वादयुक्त द्रव्यों के मिश्रण से सुस्वादु खाद्य के सदृश विभावानुभावादि के संयोग से हृदय में स्थायित्व प्राप्त स्थायीभावों का आस्वादन करते हुए सहृदय रस का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करते हैं--

यथा बहुद्रव्य युतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥
भावाभिनयसम्बन्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मात्राट्यरसाः स्मृताः ॥[5]

उनका सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' परवर्ती व्याख्याओं के लिए केन्द्रभूत रस सूत्र के रूप में ख्यात हुआ । उक्त सूत्र के दो पदों 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्तिः' की व्याख्या करने के लिये भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद नामक सिद्धान्त प्रवर्तित हुए ।

संयोग शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य भरत ने लिखा है--

'यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधि

---

1. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।
--व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।
2. रसात्मकताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात् ।
वही, प्रथम विमर्श ।
3. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।
सर्वानुग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ।।
सरस्वतीकण्ठाभरण, 5/8.
4. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः ।
काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय ।
5. नाट्यशास्त्र, 6/32-33.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति ।'

उन्होंने निष्पत्ति पद की व्याख्या इस प्रकार की है--

'यथा हिं नाना व्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथाहि गुडादि भिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।'

भरत के रससूत्र के व्याख्याताओं में भट्टलोल्लट, श्री शंकुक तथा भट्टनायक के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । उनके रस सम्बन्धी मतों का उल्लेख सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर अपनी 'अभिनव भारती' टीका तथा 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका में किया है । इसके अतिरिक्त मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश में इनके मतों का उल्लेख किया है । भट्टनायक के ग्रन्थ 'सहृदयदर्पण' का उल्लेख महिम भट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' के आरम्भ में किया है; किन्तु उन्हें 'सहृदयदर्पण' की उपलब्धि नहीं हुई थी । भट्टलोल्लट आदि के मतों की व्याख्या में अन्य परवर्ती आचार्यों ने अभिनव गुप्त और मम्मट को ही आधार बनाया है ।

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद-- मीमांसा के विद्वान् भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है । वे विभाव और अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की स्थिति मानते हैं और अनुकरण करने के कारण अनुकर्ता नट आदि में इसकी प्रतीति मानते हैं । उनके मत से भरत-सूत्र के संयोग शब्द के तीन अर्थ हैं-- विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध अनुभावों के साथ गम्य-गमक भाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्यपोषक भाव सम्बन्ध । इन्हीं तीन अर्थों के लिये उन्होंने क्रमशः 'जनितः', 'प्रतीतियोग्यः कृतः' तथा 'उपचितः' पदों का प्रयोग किया है । इसी प्रकार 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ समझने चाहिये । स्थायिभाव का विभाव के साथ 'संयोग' (उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध) होने पर रस की 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'उत्पत्ति' । अनुभावों के साथ 'संयोग' (गम्य गमक भाव सम्बन्ध) होने पर रस की 'निष्पत्ति' का अर्थ होगा 'प्रतीति' और व्यभिचारिभावों के साथ 'संयोग' (पोष्य पोषक भाव सम्बन्ध) होने पर इसकी निष्पत्ति का अर्थ होगा पुष्टि ।

भट्टलोल्लट के मत का प्रमुख दोष यह है कि उन्होंने रस की स्थिति मुख्य रूप से तो अनुकार्य में और गौण रूप से अनुकर्ता में भी मानी है, किन्तु सहृदय सामाजिक को होने वाली रसानुभूति के सम्बन्ध में किंचिन्मात्र भी विचार नहीं किया है ।

श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद

न्याय सिद्धान्त के अनुयायी भरत-सूत्र के दूसरे प्रमुख व्याख्याता श्रीशङ्कुक हैं । रस विषयक इनके मत का विवेचन 'अभिनव भारती', 'ध्वन्यालोक लोचन' और 'काव्यप्रकाश में प्राप्त होता है, इनका भी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता । उन्होंने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया है । उनके मतानुसार नट के कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर वस्तुतः नट में रस

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के विद्यमान न होने पर भी सामाजिक उसमें 'चित्रतुरगन्याय' से रस का अनुमान कर लेता है और अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है । सामाजिक की नट में होने वाली रामबुद्धि चित्रस्थ अश्व को देखकर यह अश्व है इस प्रकार सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य रूप प्रतीतियों से विलक्षण प्रतीति के समान ही होती है । नायक नायिकादि की प्रतीति चित्र तुरगन्याय से होने के अतिरिक्त अनुभाव तथा व्यभिचारि भाव भी यथार्थ न होकर कृत्रिम होते हैं । नट की शिक्षा और अभ्यास के द्वारा उनके प्रदर्शन से आनुमानिक रस की प्रतीति होती है । उन्होंने रससूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ 'गम्यगमकभाव' किया है ।

श्री शङ्कुक के द्वारा बतायी गयी रसास्वाद की प्रक्रिया के अनुसार सामाजिक को कृत्रिम विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारिभावों के साथ कृत्रिम स्थायिभाव के सम्बन्ध से नट में कृत्रिम रामसीतादि विषयक रति का अनुमान होता है । किन्तु इससे सामाजिक को होंने वाली रसानुभूति की समस्या का समुचित समाधान नहीं होता । इसके अतिरिक्त इस मत की न्यूनता यह है कि अनुमान के द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर परोक्षात्मक होता है ।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भरत के रससूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याकार भट्टनायक हैं । उनके मत का उल्लेख अभिनव गुप्त ने 'अभिनव भारती' तथा 'ध्वन्यालोक लोचन' और मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में किया है । उनके द्वारा सामाजिक को होने वाली रसानुभूति के प्रतिपादनार्थ अवलम्बित नवीन मार्ग 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है । भट्टनायक ने अपने मत की स्थापना करने के लिये अभिधा और लक्षणा शब्द शक्तियों के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है । अभिधा या लक्षणा से उपस्थित हुए काव्यार्थ का भावकत्व व्यापार परिष्कार करके उसमें से व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है । 'भावकत्व' व्यापार के द्वारा काव्यार्थ का 'साधारणीकरण' हो जाने के पश्चात् शब्द का 'भोजकत्व' नामक व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है ।

भट्टनायक का यह 'भुक्तिवाद' सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त माना जाता है । रसास्वाद के स्वरूप की तात्त्विक व्याख्या का श्रेय सर्वप्रथम भट्टनायक को ही प्राप्त है । उन्होंने सामाजिकगत रसानुभूति का विवेचन करने का प्रयत्न किया है । किन्तु उनके द्वारा कल्पित 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नामक व्यापार अनुभवसिद्ध न होने के कारण उनका 'भुक्तिवाद' का सिद्धान्त विद्वत्समादृत नहीं हो सका ।

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इस सूत्र के पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मतों की समीक्षा करने के पश्चात् अभिनव गुप्त ने 'अभिनवभारती' और 'लोचन' में रस-विषयक अपना अभिमत व्यक्त किया है । उनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से विश्रुत है, जो आलङ्कारिक मत कहा जाता है । उन्होंने भट्टनायक द्वारा वर्णित 'साधाणीकरण' व्यापार का आश्रय लिया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिनव गुप्त ने ही सर्वप्रथम रस की सहृदयनिष्ठता की प्रतिष्ठा की । उनके मत में सामाजिक के हृदय में रति आदि स्थायी भाव मूल मनः संवेग अर्थात् वासना या संस्कार रूप में उपस्थित रहते हैं। वह स्थायी भाव साधारणीकृत रूप में उपस्थित विभावादि से उद्‌बुद्ध होकर आस्वाद मात्र स्वरूप, प्रपानक रस के समान आस्वाद्यमान साक्षात् प्रतीत होता हुआ अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ, ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ और अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला श्रृङ्गार आदि 'रस' होता है । रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है अतएव अलौकिक है वह वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य और ब्रह्मास्वाद के सदृश है ।

भरत के रससूत्र के व्याख्याकारों में उत्तरवर्ती काल में यद्यपि अभिनवगुप्त का ही मत सर्वाधिक समादृत हुआ किन्तु वे अपने विवेचन को दार्शनिकता की पराकष्टा तक ले गये, जहाँ काव्यास्वाद, आत्मास्वाद से प्रायः अभिन्न हो जाता है जिसे सहृदयों के लिये बुद्धिग्राह्य होना कठिन है ।

काव्य में रस की महत्ता के विषय में अन्य प्रमुख परवर्ती आचार्यो मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि के मतों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इन आचार्यो ने स्पष्टतया रस का ही अङ्गित्व स्वीकार किया । आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य की संज्ञा प्रदान करके उसे ही काव्यत्व का निकष सिद्ध किया तथा आनन्दानुभूति को ही रस का मूल हेतु कहा है--

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते'[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रमणीयता में ही रसात्मकता प्रक्रिया को अन्ततः स्वीकार करके[2] रस ध्वनि का ही प्राधान्य निरूपित करते हुए उसे श्रेष्ठत्व प्रदान किया है [3]

निष्कर्षतः-- यह कहा जा सकता है कि काव्य का चरम लक्ष्य है--काव्यास्वादन । काव्यास्वादन की प्रक्रिया में तत्तत् काव्य सिद्धान्त स्व स्व प्रक्रियागत वैशिष्ट्य आनन्द के साथ संयुक्त होकर काव्यास्वाद को निष्पादित करता है ।

---

1. साहित्यदर्पण, 3/2
2. रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम् ।
   रसगङ्गाधर, प्रथम आनन ।
3. रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभि धीयते ।
   रस गङ्गाधर, प्रथम आनन ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वादश अध्याय

उपसंहार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वादश अध्याय

उपसंहार

संस्कृत काव्यशास्त्रीय समीक्षा के सन्दर्भ में प्रस्तुत पुस्तक में चर्चित विचारों का उपसंहार करते हुए हमारी दृष्टि संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परागत पृष्ठभूमि की ओर तो आकर्षित होती ही है, साथ ही समानान्तर समीक्षाओं और समसामयिक काव्यशास्त्रीय समीक्षा की ओर भी ध्यान आकर्षित होता है ।

संस्कृत काव्यशास्त्र ही नहीं अपितु विश्व की अन्यान्य भाषाओं के काव्यशास्त्रीय विवेचनों में भी काव्य के विभिन्न अङ्गों पर पर्याप्त विचार किया गया है । वास्तव में काव्य के सन्दर्भ में यह शाश्वत प्रश्न है कि काव्य क्या है ? केवल शब्द और अर्थ का चारुत्वपूर्ण सहभाव मात्र या अन्य कुछ ? जिस प्रकार ब्रह्म अथवा परमसत्ता को अनिवर्चनीय मानते हुए भी विश्व का प्रत्येक आस्थावादी दार्शनिक अथवा दर्शनशास्त्री उसके स्वरूप के अनुसंधान में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता है उसी प्रकार काव्य को ब्रह्मानन्द सहोदर रूप मानते हुए भी उसे लक्षणबद्ध करने का प्रयास किया जाता रहा है । इस दृष्टि से काव्य के स्वरूप विवेचन के दो दृष्टिकोण हैं एक उसके बाह्य आकार प्रकार तथा रूप से सम्बद्ध है, तथा दूसरा उसके अन्तर्निहित स्थिर अचल तथा आत्मस्वरूप तत्त्व से सम्बद्ध है । बाह्य रूप को प्रमुख मानने वाले शब्द और अर्थ को आधार मानकर काव्य का लक्षण विधान करते रहे तो आत्म तत्त्व को प्रधान मानकर काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले उस तत्त्व की खोज करते रहे, जो शब्द और अर्थ की सीमा को पार कर चारुत्व के मूल कारण के रूप में विद्यमान है ।

यहाँ साक्षात् प्रासङ्गिक न होते हुए भी ईशावस्योपनिषद् का वह प्रसङ्ग स्मरणपथ में आ जाता है, जिसमें ऋषि कहता है, कि जो केवल अविद्या और अज्ञान में पड़े हैं, वे तो अन्धकार में हैं ही, उनसे भी अधिक अन्धकार में वे हैं जो केवल विद्या तथा ज्ञान के मार्ग के पथिक हैं, क्योंकि उनकी विद्या तथा ज्ञान एकाङ्गी है । विद्या तथा अविद्या दोनों को समान रूप से जानने वाले अविद्या द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति करता है ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयम् सह ।
अविद्यया मृत्युंतीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ई०उ०॥

यही बात काव्य के लक्षण के विषय में भी चरितार्थ होती है । केवल रूप को मानने वाले अथवा केवल आत्म तत्त्व की प्रशंसा करने वाले समालोचक तथा अलङ्कारशास्त्री वास्तव में काव्य के समग्र स्वरूप के साथ न्याय नहीं कर सकते क्योंकि शरीर और आत्मा रूप और तत्त्व दोनों का महत्त्व समान है । दोनों में साधन-साध्य भाव है । आत्मा दृष्टव्य है, यह सत्य है किन्तु यह भी उतना ही सत्य है, कि शरीर आत्मा का अधिष्ठान है, जिसके द्वारा न तो वह प्रमाता बन सकता है, और न ही प्रमेय। इस दृष्टि से ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्री अधिक श्लाघ्य प्रतीत होते हैं क्योंकि वे ध्वनि को सर्वस्वभूत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानते हुए भी शब्द और अर्थ का तिरस्कार नहीं करते अपितु उन्हें साधन रूप में महत्त्वपूर्ण मानते हैं । ध्वन्यालोक की अनेक कारिकाओं में यह तथ्य सङ्केतित होता है--

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः । इत्यादि ।

जहाँ तक संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा का प्रश्न है, तो इसके ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है, कि काव्य लक्षण सम्बन्धी विचार भामह से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक एक क्रमिक यात्रा के रूप में सङ्गठित है । यह यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है, जिसका पर्यवसान उस बिन्दु पर होता है, जहाँ स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम एक रूप हो जाते हैं । पण्डित राज जगन्नाथ की--" रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द" की कल्पना उक्त तथ्य को इङ्गित करती है ।

यदि काव्य को वस्तु, पदार्थ अथवा कार्य माना जाय, तो कार्य कारण की चिरन्तन अवधारणा के आधार पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका कारण क्या है ? शब्द और अर्थ उसके उपादान कारण तथा कवि उसका निमित्त कारण कहा जा सकता है, किन्तु कवि केवल व्यक्ति नहीं है । कवित्व जाति से युक्त कवि को इस संज्ञा से विभूषित करने वाले उसके गुण ही मूल रूप में काव्य के निमित्त अथवा हेतु हैं ।

काव्यलक्षण की ही भाँति काव्य हेतु भी व्यापक चर्चा का विषय रहे हैं । यह सुखद आश्चर्य की बात है, कि संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने जिन काव्य हेतुओं की व्याख्या की उन्हीं को अपरपर्यायेण पाश्चात्त्य विचारकों ने भी स्वीकार किया । वे हेतु हैं- प्रतिभा व्युत्पत्ति तथा अभ्यास । यद्यपि कुछ काव्यशास्त्रियों ने इनके अतिरिक्ति भी काव्य हेतुओं की कल्पना की, किन्तु वे अन्ततः इन्हीं मे अन्तर्मुक्त हो जाते हैं ।

कुछ अलङ्कारशास्त्रियों ने केवल प्रतिभा को, कुछ ने प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति को, कुछ ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को तथा कुछ ने तीनों को समुदित रूप में काव्य का हेतु माना । अन्तिम मत को मानने वालों में मम्मट प्रभृति प्रमुख हैं । समीक्षा इसे स्पष्ट होता है, कि अन्तिम मत ही सर्वाधिक समीचीन है, क्योंकि लोक प्रमाण के आधार पर केवल प्रतिभा व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के अभाव में कुण्ठित हो जाती है, तथा प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास विद्वान् रचनाकार को तो जन्म दे सकते हैं; सहृदयहृदयाह्लादक कवि को नहीं । अतः तीनों मिलकर ही कालिदासादि सदृश कवियों के काव्य का हेतु हो सकते हैं, जो काव्य को ब्रह्मानन्द के समकक्ष पहुँचाने में सक्षम है ।

काव्य के बाह्य स्वरूप को साधन अन्तरतत्त्व को साध्य तथा उसके सृजन मे हेतुभूत कारणों की चर्चा के पश्चात् प्रयोजन अथवा उद्देश्य का प्रश्न उपस्थित होता है । संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम भरत ने नाटय प्रयोजनों की चर्चा कर मानव जीवन के प्रत्येक प्रयोजन को नाट्य के प्रयोजन से सम्बद्ध किया क्योंकि नाट्य मानव जीवन के विविध पक्षों की अवस्थानु कृति है । इस दृष्टि से काव्य के भी अनन्त प्रयोजन सम्भाव्य हैं किन्तु उन्हें विवेचन सुविधा के लिए श्रेणीबद्ध किया गया । इस विषय मे प्रायः तीन मत अधिक मुखरित हुए । प्रथम के अनुसार काव्य को सर्वसाधारण के लिए भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने वाला, द्वितीय मत के अनुसार काव्य को यश तथा आनन्द का साधक तथा तृतीय मत के अनुसार अनेक लौकिक तथा अलौकिक प्रयोजन माने गये । कुछ मम्मट सदृश काव्यशास्त्रियों ने काव्य का साक्षात् सम्बन्ध कवि तथा श्रोता (सहृदय) से स्थापित करते हुए उन्हीं के आधार पर काव्य प्रयोजनों का वर्गीकरण किया । भामहादि ने काव्य के प्रयोजनों में कलाओं का ज्ञान भी सम्मिलित किया । इन सभी प्रयोजनों में "सर्वप्रयोजन मौलिभूत " आनन्द को माना गया, जो ब्रह्मानन्द के ही समान विगलित वेद्यान्तर कहा जा सकता है ।

काव्य के सभी प्रयोजनों तथा मौलिभूत आनन्द की प्राप्ति के लिए काव्य के सौन्दर्यभूत जिन-जिन तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है, वे हैं-- गुण, रीति, अलङ्कार, रस छन्द इत्यादि । काव्य में चारुत्व अनिन्द्य हो, इस दृष्टि से हेय दोषों का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक है तथा काव्य के मूल्याङ्कन की दृष्टि से समालोचक के लिए भी ।

काव्य गुणों को प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के स्थिर धर्म के रूप में स्वीकार कर काव्य का प्रमुख शोभाधायक तत्त्व माना । संस्कृत काव्यशास्त्रियों द्वारा गुण विवेचन के दो उद्देश्य थे: काव्य में सम्भाव्य दोषों से बचना, तथा उसके सौन्दर्य की वृद्धि । भरत ने दोषों की चर्चा करते हुए उसके विपर्यास के रूप में गुणों का उल्लेख किया ।

गुणों का सर्वप्रथम व्यापक विवेचन वामन ने किया । उन्होंने दश शब्द गुण तथा दश अर्थ गुण माने । कालान्तर में इन सभी के स्थान पर तीन ही गुण माने गए इस मत का प्रतिनिधित्व मम्मट ने किया ।

इस प्रकार गुणों की संख्या के विषय में दो वर्ग हुए किन्तु परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद ये तीन ही गुण माने गये । गुणों को पद संघटनारूप रीति की आत्मा मानते हुए तत्तदवर्णों को तत्तद् गुणों के व्यञ्जक के रूप में उल्लिखित किया गया । मम्मट ने काव्य के अंगीभूत रस के धर्म स्वीकार करते हुए श्रृंगारादि रसों में माधुर्यादि गुणों के व्यञ्जक वर्णों से युक्त रचना के औचित्य का विश्लेषण किया ।

रस के अचल धर्म होने पर भी नैमित्तिक रूप से कहीं गुण भी दोष हो जाते हैं और कहीं दोष भी गुण । संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने इस प्रकार के गुणों की स्पष्ट चर्चा की ।

गुणों के विपरीत दोषों को काव्य के मुख्य अर्थ का हनन करने वाला तथा रस के अपकर्षक के रूप में स्वीकार किया गया है दोषों की काव्य में उपस्थिति के विषय में दो मत हैं । कुछ कट्टरवादी विचाराधारा के पोषक हैं, जो रञ्चमात्र भी दोष को काव्य में सह्य नहीं मानते । इनकी दृष्टि में काव्य का निर्दोष होना ही सबसे बड़ा गुण है । द्वितीय पक्ष उदारवादी विचारकों का हैं, जो दोषों को हेय मानते हुए भी काव्य में उस सीमा तक सह्य मानते हैं, जिस सीमा तक वह रस का अपकर्षक न हो ।

गुण की भाँति ही दोषों की संख्या में भी पर्याप्त विचार वैभिन्न्य है । कुछ काव्यशास्त्रियों ने काव्य के रचना विधान के आधार पर दोषों का विभाजन किया है तो कुछ ने शब्द अर्थ और रस को आधार मानकर दोषों का वर्गीकरण किया । सभी मतों के सापेक्षिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि दोष पद की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूक्ष्मतम इकाई से लेकर रस तक में सम्भाव्य है । कुछ अलङ्कारवादी आचार्य अलङ्कारगत दोषों की भी कल्पना करते हैं । गुणों की भाँति ही दोष भी कहीं पदादि के औचित्य से गुण हो जाते हैं ।

काव्य में अलंकारों की स्थिति नारी के कटक कुण्डलादिवत् आभूषण के समान है । अलंकारों को रस का अचल धर्म न मानकर उन्हें रस का उपकारक माना गया है । वस्तुतः अलङ्कार शरीर के आभूषणवत् होने के कारण शब्द और अर्थ में रहने वाले तत्त्व हैं । वामनादि का दृष्टिकोण इस विषय में अत्यन्त उदारवादी है । वे "सौन्दर्यमलङ्कारः" कहकर काव्य को अलंकारों की उपस्थिति के कारण ही ग्राह्य मानते हैं ।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने अलंकारों का महत्त्व तो स्वीकार किया, किन्तु उनके अभाव में भी अन्य उपकारक तत्त्वों के होने पर वे काव्यत्व की हानि नहीं मानते । तथापि प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों ने अलङ्कारों की उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया है, चाहे अलंकारवादी आचार्य हों, रीतिवादी काव्यशास्त्री हों, रसवादी आलंकारिक हों अथवा ध्वनिवादी आचार्य ।

कुछ अलंकार केवल शब्द के चमत्कार वर्धक होते हैं, कुछ अर्थ के तथा कुछ शब्द और अर्थ दोनों के उपकारक होते हैं । इस प्रकार अलङ्कारों के मुख्य ३ प्रभेद हैं (१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार (३) उभयालंकार । इसका अभिप्राय यह नहीं कि शब्दालंकार का अर्थ से तथा अर्थालंकार का शब्द से कोई संबंध नहीं होता वस्तुतः दोनों परस्पर प्रकर्षक तथा प्रभावित करने वाले होते हैं ।

अलंकारों के विषय में सर्वाधिक मतभेद संख्या का है, किन्तु वास्तव में यह मतभेद न होकर क्रमिक विकास का द्योतक है । नाट्यशास्त्रियों में सर्वप्रथम भरत ने चार अलङ्कार निरूपित किये तथा अलङ्कारशास्त्रियों में सर्वप्रथम भामह ने 38 अलङ्कार निरूपित किये जिनकी संख्या 18वीं शताब्दी तक 200 तक पहुँच गयी ।

वाणी के व्यापार के आधार पर उसके दो भेद स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति माने गये ।

कुछ काव्यशास्त्रियों ने स्वभावोक्ति को भी अलंकार की कोटि में रखा जबकि अधिकांश ने अलंकार में वक्रोक्ति को महत्त्व प्रदान किया ।

शब्दालंकारों में वर्णसाम्य तथा शब्द साम्य प्रमुख होता है, जबकि अर्थालंकार अर्थ साम्य पर आधारित होते हैं । इस दृष्टि से सभी अलंकारों को सर्वप्रथम रुद्रट ने वर्गीकृत किया-- 1. सादृश्य मूलक 2. औपम्यमूलक 3. विरोध मूलक 4. श्रृङ्खलामूलक 5. न्यायमूलक तथा 6. गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक ।

अतः वर्गीकरण के आधार पर ही उपमादि अलंकारों का विस्तार हुआ ।

काव्य के पद्यात्मक प्रकार में छन्द का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है जिसका प्रथम उदाहरण वेद हैं और जो आधुनिक संस्कृत काव्य तक महत्त्वपूर्ण रूप में स्वीकृत हैं । छन्द मात्रात्मक तथा वर्णात्मक परिणाम है । एक वेदाङ्ग के रूप में ख्यात छन्द के प्रमथ लौकिक व्याख्याता आचार्य पिंगल माने जाते हैं जिन्हें सभी परवर्ती छन्द विवेचकों ने प्रमाण माना । लय, यति गति आदि से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियंत्रित छन्द का काव्य के चारुत्त्व से ही नहीं अपितु रसास्वाद से भी सीधा सम्बन्ध है ।

उक्त तत्त्वों के अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने पद संघटना रूप रीति, काव्य में आत्मतत्त्व के विवेचन तथा काव्य से अन्य ललित कलाओं के सम्बन्ध तथा साहित्यिक समालोचना के स्वरूप तथा प्रकार पर भी विचार किया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रन्थानुक्रमणिका

	ग्रन्थ	लेखक
1.	अग्निपुराण	व्यास
2.	अभिधावृत्तिमातृका	मुकुल भट्ट
3.	अर्थशास्त्र	कौटिल्य
4.	अलङ्कार शेखर	केशव मिश्र
5.	अलंकार रत्नाकर	शोभाकर
6.	अलङ्कार संग्रह	अमृतानन्द योगी
7.	अलङ्कार सर्वस्व	रुय्यक
8.	ईशावास्योपनिषद्	
9.	उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
10.	एकावली	विद्याधर
11.	औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
12.	कविकण्ठा भरण	क्षेमेन्द्र
13.	काव्य कौतुक	भट्टोद्भट
14.	काव्य प्रकाश	मम्मट
15.	काव्य मीमांसा	राजशेखर
16.	कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षित
17.	काव्यात्म मीमांसा	जयन्त मिश्र
18.	काव्यादर्श	दण्डी
19.	काव्यानुशासन	वाग्भट द्वितीय
20.	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
21.	काव्यालङ्कार	भामह
22.	काव्यालङ्कार	रुद्रट
23.	काव्यालङ्कार सारसङ्ग्रह	उद्भट
24.	काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति	वामन
25.	चन्द्रालोक	जयदेव
26.	छन्द सूत्र	पिङ्गलाचार्य
27.	छान्दोग्योपनिषद्	
28.	छान्दोग्य ब्राह्मण	
29.	दशरूपक	धनञ्जय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

30.	दशरूपकावलोक टीका	धनिक
31.	ध्वन्यालोक	आनन्द वर्धन
32.	ध्वन्यालोकलोचन टीका	अभिनव गुप्त
33.	नाट्य शास्त्र	भरत
34.	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
35.	निरुक्त	यास्क
36.	प्रतापरुद्रयशोभूषण	विद्यानाथ
37.	बृहद्देवता	
38.	भट्टिकाव्य	भट्टि
39.	रसगङ्गाधर	पण्डित राज जगन्नाथ
40.	रस तरङ्गिणी	भानुदत्त मिश्र
41	रस मञ्जरी	भानुदत्त मिश्र
42.	रसार्णवसुधाकर	शिङ्गभूपाल
43.	वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक
44.	वाग्भटालङ्कार	वाग्भट
45.	विमर्शिनी टीका	जयरथ
46.	वृत्त रत्नाकर	केदार भट्ट
47.	व्यक्ति विवेक	महिमभट्ट
48.	शिशुपाल वध	माघ
49.	श्रुत बोध	कालिदास
50.	श्रृङ्गार प्रकाश	भोजदेव
51.	समुद्र बन्ध टीका	
52.	सरस्वती कण्ठाभरण	भोजदेव
53.	सङ्गीत रत्नाकर	शार्ङ्गदेव
54.	साहित्य दर्पण	विश्वनाथ
55.	साहित्य मीमांसा	रुय्यक
56.	सुवृत्त तिलकम्	क्षेमेन्द्र

*****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh